आधुनिक भावबोध की संज्ञा

अमृतराय

प्रकाशक | हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
मुद्रक | पियरलेस प्रिन्टर्स, इलाहाबाद
आवरण | इम्पैक्ट
मूल्य | सजिल्द : चालीस रुपया
संस्करण | १९८७
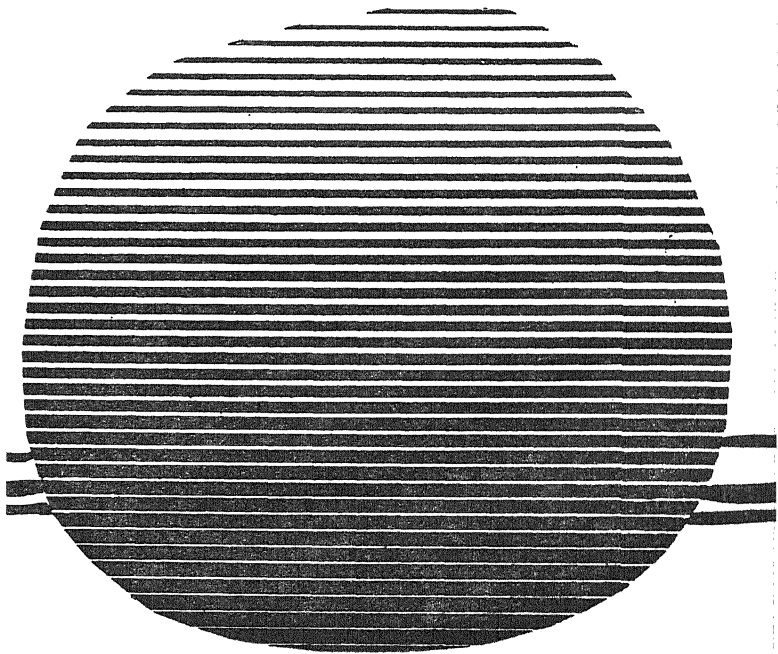
आधुनिक
भावबोध
की
संज्ञा
अमृतराय

लेखक की अन्य रचनाएँ

उपन्यास / बीज / नागफनी का देश / हाथी के दाँत / जंगल / सुख-दुख / भटियाली / धुआँ **कहानी** / जीवन के पहलू / इतिहास / कस्बे का एक दिन / लाल धरती / भोर से पहले / कठघरे / गीली मिट्टी / चित्रफलक / सरगम / चतुरंग **आलोचना** / नयी समीक्षा / सहचिन्तन / विचारधारा और साहित्य / प्रेमचंद की प्रासंगिकता **जीवनी** / प्रेमचंद : कलम का सिपाही **नाटक** / चिन्दियों की एक झालर / शताब्दी / हम लोग उर्फ़ यहीं कहीं होगा **ललित लेख** / रम्या / बतरस / आनंदम / विज़िट इंडिया **अनुवाद** / अग्निदीक्षा / आदिविद्रोही / समरगाथा / हैमलेट / फाँसी के तख्ते से / ख़ौफ़ की परछाइयाँ / रवीन्द्र निबंधावली / नूतन आलोक **यात्रा** / सुबह के रंग ।

बंधुवर बालकृष्ण राव को
सादर-सस्नेह

अनुक्रम

दो समसामयिक प्रश्न

आधुनिक भावबोध की संज्ञा

आधुनिक भावबोध की संज्ञा

आधुनिक भाव-बोध। ऐब्सर्ड-बोध। त्रास, संत्रास, लेखकीय संत्रास और कभी-कभी मूल अंग्रेज़ी शब्द टेरर, आउटसाइडर या अजनबी (चीज़ एक ही है, कामू का फ्रेंच शब्द है एत्राँजे अर्थात् अंग्रेजी का स्ट्रेंजर अर्थात् अजनबी)। कमिटमेंट या प्रतिबद्धता। सलीब। ऐण्टी-स्टोर, ऐण्टी-पोयेट्री ऐण्टी-प्ले के वज़न पर उन्हीं शब्दों के भोंडे अनुवाद अ-कहानी, अ-कविता, अ नाटक।

इसी तरह के और भी दो-चार शब्द और कुछ विचारकों-कथाकारों-नाटककारों के नाम—किर्केगार्द, हाइडेगर, यास्पर्स, कामू, सार्त्र, काफ्का, इओनेस्को, बेकेट...मैं पहले ही कह दूँ कि मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो विचारों की भौगोलिक सीमारेखाएँ खींचते हैं — और सो भी आज के युग में जब कि आधुनिक विज्ञान ने दुनिया को सचमुच काफ़ी छोटा कर दिया है—और न उनमें, जिन्हें सभी कुछ प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के भीतर ही मिल जाता है।

आदमी सब जगह आदमी है। आहार-निद्रा-भय-मैथुन की एक ही जैसी मूल प्रवृत्तियाँ सब में हैं। यही चीज़ एक आदमी को दूसरे के साथ जोड़ती है, दोनों को एक समान आधार देती है। लेकिन उसे अपने से बाहर प्रक्षेपित करने वाला तत्त्व दूसरा है। वह है उसका चैतन्य। यह कि आदमी सोचने-विचारने वाला प्राणी है, जब कि आहार-निद्रा-भय-मैथुन प्राणिमात्र का स्वभाव है। इसीलिए एक देश के गाय-बैल या कुत्ते और दूसरे देश के गाय-बैल या कुत्ते-बिल्ली में सांस्कृतिक आदान-प्रदान नहीं होता, आदमियों के ही बीच होता है। मानवीय चेतना का एक गुण जिज्ञासा है और दूसरा, अपने ही जैसे दूसरे आदमी के साथ एकता और सामीप्य का बोध। इन्हीं के चलते इतिहास के आरम्भ से लेकर आज तक संसार की विभिन्न जातियों और देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता आ रहा है और आज के दिन, जबकि वे दूरियाँ भी मिट गयीं या बहुत कुछ मिट गयीं, इस क्रम में और भी अधिक वेग, और

भी अधिक विस्तार आ जाना बिलकुल स्वाभाविक है। पैरिस में या ग्रिनिच विलेज में या सैनफ्रैंसिस्को में या और कहीं, उधर कोई नयी किताब निकली या किसी पत्रिका का कोई विशेष अंक निकला या किसी नयी प्रवृत्ति के दर्शन हुए और उसके महीने-बीस रोज़ के भीतर वह चीज़ या उसकी गूँज या धमक यहाँ भी पहुँच गयी और तथाकथित आवाँगार्द हल्क़ों में चर्चाएँ शुरू हो गयीं ! कोई बुराई नहीं है इसमें और न ऐसी कोई अशुभ बात। यह स्थिति का दबाव है। दुनिया के कोने-कोने में आज यही हो रहा है, क्योंकि विज्ञान ने उसके साधन उपलब्ध कर दिये हैं। अन्य एशियाई देशों की तुलना में हमारे यहाँ उसका कुछ विशेष रूप दिखायी पड़ता है, जो थोड़ा चिंताजनक है। पर वह हमारी विशेष स्थिति का दबाव है, जहाँ देश की धरती भूख उगलती है और देश अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान को गिरवी रखकर विदेशी टुकड़ों पर पलने के लिए मजबूर है। इसी आर्थिक दासता में से, जहाँ अपना सब-कुछ अपनी ही करनी से अपनी आँखों के आगे सूखा जा रहा हो, ध्वस्त हुआ जा रहा हो, मानसिक दासता का जन्म होता है और राष्ट्र का विवेक मूर्च्छित होने लगता है, भले-बुरे का निर्णय करने की शक्ति किसी के अंदर नहीं रह जाती। जहाँ दुनिया इतनी छोटी हो गयी है, भला-बुरा सभी कुछ आ रहा है और बराबर आता रहेगा, कोई रोकना भी चाहे तो नहीं रोक सकता। ऐसी स्थिति में सारा दायित्व लेनेवाले पर आ जाता है कि वह क्या ले और क्या न ले, और जो भी ले उसको कैसे अपना बनाकर ले। यही मनुष्य का चैतन्य है और नये विचारकों की एक टोली में, जिनसे नये होने के नाते ही और भी नयी दृष्टि की अपेक्षा होती है, इस चैतन्य का अभाव ही असल चिंता का विषय है। कहीं से उधार लिये गये दर्जन-दो दर्जन शब्दों के मनके बार-बार फेरने से कभी किसी को अपने जीवन का सत्य नहीं मिला। वह जब भी मिला है और जिसको भी मिला है और जितना भी मिला है, अपने भीतर पैठने से और अपने देश-काल के भीतर पैठने से ही मिला है। मनुष्य की बहुत बड़ी निधि है उसका विवेक, वह किसी के हाथ बंधक रखने की चीज़ नहीं, बड़े-से-बड़े आदमी के हाथ भी नहीं। उसी पर तो खरे-खोटे की परख होनी है, जो आपकी अपनी परख है, नितांत अपनी। मैं समझ नहीं पाता कि जहाँ 'अपने भोगे हुए' पर इतना अधिक बल दिया जाता है, वहाँ इस अपने विवेक को क्यों इतना निरर्थक जानकर और नपुंसक करके छोड़ दिया गया है। ऊपर जिन लेखकों-विचारकों के नाम दिये गये हैं, उनको और और भी लोगों को पढ़िए, जरूर पढ़िए, बार-बार पढ़िए, मगर पढ़िए, सिर्फ़ नाम मत रटिए और उन्हें उनके देश-काल के संदर्भ में रखकर पढ़िए और उस पढ़े हुए को अपने

देश-काल के संदर्भ में अपने अनुभव की कसौटी पर जाँचिए, तब शायद हम सभी सच्चाई के कुछ और पास पहुँच सकेंगे और इन दस-बीस नामों और शब्दों का पहेली-बुझौवल से कुछ अधिक सार्थक उपयोग हो सकेगा, अँधेरा बढ़ाने के बदले घटाने की दिशा में उन्हें नियोजित किया जा सकेगा।

अभी स्थिति यह है कि यह पूछने पर कि आधुनिक भावबोध क्या है और किस अर्थ में, कहाँ पहुँचकर, वह पुराने भावबोध से एकदम अलग जा पड़ता है; 'ऐब्सर्ड-बोध' से आप क्या आशय ग्रहण करते हैं; टेरर या संत्रास कहकर आप ठीक-ठीक किस मन:स्थिति या किस प्राणघाती आंतरिक या बाह्य संकट का संकेत करना चाहते हैं; या कि प्रतिबद्धता की आपकी परिभाषा क्या है, अगर उसे परिभाषित किया जा सकता हो, अन्यथा उसकी कैसी रूपरेखा आपके मन में है; या कि आपको अपने 'आउटसाइडर'-पन का पहला बोध कब और कैसे, अपने जीवन के किस संदर्भ में हुआ; या कि अ-कविता और अ-कहानी से आपका क्या प्रयोजन है — अधिकतर नये लेखक, जिनसे मुझे बातें करने का अवसर मिला है और जो अपने लिखने में इन शब्दों का खूब धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं, बग़लें झाँकने लगते हैं या फिर तरह-तरह से इन्हीं शब्दों की लड़ियाँ पिरोकर कुछ ऐसी संध्या-भाषा में अपनी बात कहते हैं कि उससे बात सुलझने के बजाय और भी उलझ जाती है। इसी तरह जब हर नया लेखक, नये से नया लेखक, 'प्रोफ़ाउंड' बात कहने के चक्कर में इसी संध्या-भाषा का प्रयोग करता है — इसको भूलकर कि बात की गुरुता या गंभीरता उलझाव में नहीं बल्कि स्वयं उस बात में होती है — तब धीरे-धीरे इस 'नये' साहित्य और 'नये' भावबोध के इर्द-गिर्द एक रहस्यमय मायालोक की सृष्टि हो जाती है, जिसके भीतर प्रवेश पाने के लिए 'खुल जा सुमसुम' के जैसा ही एक नया मंत्र ज़रूरी हो जाता है, उसके बग़ैर दरवाजा नहीं खुल सकता और कोई उस चौखट के भीतर पैर नहीं रख सकता!

अपना वैशिष्ट्य बनाये रखने की दृष्टि से यह पद्धति काफ़ी अच्छी है, लेकिन अपनी बात लोगों तक पहुँचाने की दृष्टि से अच्छी नहीं। जहाँ तक मैं इस जीवन-दृष्टि को समझ सका हूँ, जीवन के संबंध में उसका एक मौलिक वक्तव्य है, जो निश्चय ही बड़ा महत्त्वपूर्ण है और उस पर गंभीरता से विचार करने की ज़रूरत है।

सब जानते हैं कि इस जीवन-दृष्टि का गहरा संबंध 'एक्ज़िस्टेंशल' या 'अस्तित्ववादी' जीवन दर्शन से है। अस्तित्ववाद का जनक डेनमार्क का द्रष्टा विचारक किर्केगार्द है। किर्केगार्द का समय वही है जो कार्ल मार्क्स का।

उसकी पहली पुस्तक और मार्क्स की पहली पुस्तक एक-दो बरस के हेर-फेर से प्रकाशित हुईं। यह एक सौ बीस बरस पुरानी बात है। मार्क्स और किर्केगार्द की दृष्टि में मौलिक अंतर है। मार्क्स की दृष्टि समष्टि को लेकर चलती है, किर्केगार्द की दृष्टि व्यक्ति पर है। इसीलिए मार्क्स जहाँ सामाजिक न्याय, वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा के संगठन और जन-क्रांति की बात करता है, किर्केगार्द आधुनिक मशीन-युग के उस यांत्रिक जीवन की विभीषिका की बात करता है, जिसमें व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खोकर मशीन का एक पुर्ज़ा-मात्र हो गया है। मार्क्स मानव-जाति की बात करता है, किर्केगार्द मानव-व्यक्ति की। मार्क्स को व्यक्ति की ओर देखने का अवकाश नहीं है, क्योंकि उसने मान लिया है कि व्यक्ति की हर समस्या का, हर दुःख का, हर दुर्बलता का समाधान पूँजी पर आधारित समाज के अन्याय को मिटा देने में है और समाज ही व्यक्ति की अंतिम नियति है, उससे अलग व्यक्ति की कोई इयत्ता नहीं है। किर्केगार्द के लिए व्यक्ति ही एकमात्र सत्य है, सार्वभौम सत्य, और हर व्यक्ति अपने-आप में एक अलग ब्रह्माण्ड, नितान्त विशिष्ट अपने मानस-लोक में, जैसा कोई दूसरा व्यक्ति संसार में नहीं। किर्केगार्द के लिए समाज का अस्तित्व पटभूमि से अधिक कुछ भी नहीं, जिसके निकटतर-सूक्ष्मतर परीक्षण के लिए किर्केगार्द को अवकाश भी नहीं है।

मानव जीवन के दो अलग-अलग स्तरों या आयामों के प्रति निवेदित होते हुए भी मेरे देखने में ये दोनों ही दृष्टियाँ मूलतः मानववादी हैं, क्योंकि दोनों की चिंता मनुष्य के सुख-दुःख, उसकी ही प्रगति और उत्कर्ष को लेकर है। इस प्रसंग में यहाँ पर इतना ही कि मेरे देखने में इन दोनों ही दृष्टियों के पास अपना-अपना सत्य है (इन अलग-अलग सत्यों को एक में जोड़कर ही एक पूर्णतर सत्य की प्रतिमा खड़ी की जा सकती है और हर व्यक्ति अपने लिए अपने ढंग से खड़ी करता है, स्वतःसम्पूर्ण एक सत्य कभी किसी को हाथ लग भी सकेगा, कहना कठिन है) और यद्यपि काफ़ी दूर तक दोनों एक-दूसरे की उल्टी दिखायी पड़ती है, मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि अंततः दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। इस विश्वास का आधार यही है कि दोनों एक दिशा में देख रही हैं और जिस तरह आदमी की दोनों आँखों की दृष्टिरेखा एक बिंदु पर पहुँचकर मिल जाती है, वैसी ही स्थिति इन दोनों दृष्टियों की है, जो एक उसी 'आदमी' पर निबद्ध हैं। अक्सर दोनों को, दोनों पक्षों के विचारकों की ओर से, दो समानान्तर रेखाओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, पर मैं उन्हें समानान्तर रेखाएँ नहीं मान पाता। वस्तुस्थिति को देखते हुए यह मेरी आत्मछलना भी हो सकती है पर

निरी आत्मछलना हो, ऐसा भी मुझको नहीं लगता, क्योंकि प्रकृति के द्वंद्वात्मक विकास के सिद्धान्त से मैंने यह सीखा है, जो बात परीक्षण से सिद्ध है, कि समस्त गति का स्रोत किसी वस्तु या व्यापार के भीतर कार्यशील तत्त्वों के परस्पर घात-प्रतिघात में होता है और फिर इसी संघर्ष में से एक नयी वस्तु का उद्भव होता है। मनुष्य ही अपने इतिहास का निर्माता है और इसी तरह अन्तर्विरोधों के बीच होकर, उनसे जूझते हुए, वह अपने नये समाधानों की ओर बढ़ता रहा है। इस प्रश्न पर ही उसे कभी कोई समाधान नहीं मिलेगा, ऐसा समझने का कोई संगत कारण नहीं है।

जो हो, किर्केगार्द ने मनुष्य के यंत्रीकरण की जो समस्या उठायी है, वह अत्यन्त महत्त्व की है। कलकत्ता, बम्बई जैसे महानगरों में आदमी की स्थिति को देखकर कल्पना की जा सकती है कि इस धारा की दिशा क्या है। कितनी भीड़, और उस भीड़ में कितना अकेलापन हर आदमी का ! कितना शोर कि आदमी के कान फटे जाते हैं और वह खुद अपनी आवाज नहीं सुन सकता ! कितनी भागमभाग और कितना स्नायविक तनाव हर क्षण का ! सवेरे से लेकर रात तक आदमी या तो पागलों की तरह भाग रहा है या भीड़ में खड़ा है या कहीं किसी कल-कारखाने में या दफ्तर में खट रहा है। मुँह-अँधेरे जो वह उठता है तो रात को बिस्तर पर जाने तक यही परेशानी और तनाव और भागमभाग का सिलसिला है। बस में है तो भीड़ में, रेल में है तो भीड़ में, सड़क पर है तो भीड़ में, और घर लौटकर आया है तो भीड़ में, क्योंकि एक छोटी-सी कोठरी में इतने सारे लोग रहते हैं। और अगले रोज़ आँख खुलते ही फिर यही सिलसिला होगा, और साल के तीन सौ पैंसठ दिन वही बात। जीविकोपार्जन में ही तन की, मन की सब शक्ति चुक जाती है। उसके पास एक मिनट का समय नहीं है कि सुस्ता सके, अपने से या किसी से बात कर सके, कुछ सोच सके, कुछ पढ़ सके, दो मिनट खुलकर हँस सके। सत्तर लाख, अस्सी लाख, एक करोड़ की आबादीवाले इन महानगरों में जहाँ एक बीसमंज़िला इमारत दूसरी पचीसमंजिला इमारत पर गिरी पड़ती है और मकानों का भी कंधे से कंधा छिलता है, या छोटी-छोटी खोलियों और झुग्गियों में दो-दो, तीन-तीन परिवार रहते हैं, कब किसे खुली हवा खाने को मिलती है, खुली धूप के दर्शन होते हैं, खुले आसमान के नीचे दो घड़ी लेटने को मिलता है, जहाँ दूर-दूर तक दिशाएँ मुक्त हैं और आकाश से मौन का अनहद संगीत झर रहा है (बात सुनने में चाहे जितनी भी छायावादी लगे, पर प्रकृति का संस्पर्श अपने रहस्यमय ढंग से आदमी को क्या दे देता है और उससे कटकर आदमी क्या

खो देता है, इसे पश्चिम का आदमी हमसे भी अधिक मात्रा में खो चुकने पर आज फिर समझ रहा है !) इस सबके लिए अब न तो समय है और न स्थान। फलतः मनोविनोद के दो ही साधन उसके पास बच रहते हैं, या तीन । कच्ची-पक्की शराब, ताड़ी, कुछ भी पीकर धुत हो जाना, नाच-गाने, मारकाट, कसी चोलियों और अधनंगी छातियों से भरपूर कोई उत्तेजक फ़िलम देख लेना और अपनी औरत के साथ सो रहना, कैसे भी, कहीं भी । यह आदमी का नहीं, सच्चे अर्थों में कीड़ों-मकोड़ों का जीवन है — और आधुनिक युग की यांत्रिक-सभ्यता में आदमी का यह जो रूपांतर होता है, शायद, इसी की कहानी काफ्का ने अपनी 'मेटामॉर्फ़ोसिस' में कही है । मशीन ने आदमी को जीत लिया है । जहाँ मशीन को आदमी का गुलाम होना चाहिए था, वहाँ आदमी मशीन का गुलाम हो गया है । और अभी तो यह केवल आरम्भ है । जिस तेज़ी से विज्ञान की उन्नति हो रही है, उसको देखते हुए तो इस कल्पना से ही भय मालूम होता है कि अगले पचास बरस में ही दुनिया की क्या शक्ल होगी और उसमें आदमी कहाँ होगा, उसकी कैसी-क्या सूरत होगी, क्या ज़िंदगी होगी । अभी तो, इस अर्थ में कि आदमी के हाथ का काम मशीन करने लगी है, आदमी के हाथ का ही अवमूल्यन हुआ है, कल जब आदमी के दिमाग़ का काम भी मशीन करने लगेगी, (जिसकी शुरुआत भी हो गयी है, और 'एलेक्ट्रानिक्स' में और भी प्रगति होगी और पता नहीं क्या-क्या होगा, मशीन के आदमी, तरह-तरह के 'रोबो', सब काम करने लगेंगे) और आदमी के दिमाग़ का भी अवमूल्यन हो जायेगा, और निरन्तर होता चला जायेगा, तब क्या होगा ? आज जिस अर्थ में हम आदमी को आदमी कहकर जानते-पहचानते हैं, उस अर्थ में आदमी रह सकेगा ? क्या आज से भी कहीं ज्यादा उन्हीं मशीनों के रूप में न ढल गया रहेगा ? एक विशिष्ट व्यक्तित्व-वाले मानव प्राणी के रूप में और भी अपदार्थ न हो जायेगा ? फिर सवाल पैदा होता है, इससे बचने का क्या उपाय है, इतिहास के इस चक्र को कैसे रोका जा सकता है ? स्पष्ट है कि अब तक जो उन्नति विज्ञान ने कर ली है, उसको मिटाया नहीं जा सकता । यह संभव नहीं है कि आदमी अब तक की अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों को छोड़कर फिर मध्ययुग में या आदिम युग में लौट जाये । तो फिर क्या हम यह मान लें कि यही मनुष्य की नियति है ? ये हमारे अस्तित्व के मौलिक प्रश्न हैं और बड़े भयानक प्रश्न हैं ।

इसके साथ ही अगर इस यंत्र-युग के मानव-संबंधों को भी जोड़ दीजिए, तब स्थिति और भी भयावह हो जाती है । जैसा कि सभी जानते हैं, इस यंत्र-युग और पूँजीवादी अर्थतंत्र ने एक साथ ही इतिहास के मंच पर प्रवेश किया ।

इसीलिए बहुत बार जाने-अनजाने दोनों को एक दूसरे का पर्याय भी समझ लिया जाता है। और फिर स्वाभाविक ही है कि पूँजीवादी अर्थतंत्र में से निकलने-वाले मानव-संबंधों को यंत्र-युग की ही अनिवार्य देन मान लिया जाये। जब समाजवाद केवल एक नाम था और दुनिया में कहीं प्रयोग में नहीं आ रहा था, तब के लिए यही इस दिशा में विचारों का सीमांत था। लेकिन आज जब वह दुनिया के अनेक देशों में प्रयोग में आ रहा है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वहाँ पर यंत्र-युग का वैसा प्रभाव उनके सामाजिक जीवन पर या व्यक्ति के मानसलोक पर नहीं पड़ा है, जैसा कि पूँजीवादी देशों में पड़ा है। दूसरे शब्दों में, आदमी का उस प्रकार का या उतना यंत्रीकरण या अमानवीकरण नहीं हुआ। हाँ, एक और ही समस्या या अंतर्विरोध सामने आया है, जो समाज और व्यक्ति के पारस्परिक-संबंध को लेकर है, जिसके बीच होकर व्यवहारतः इस समाजवादी सिद्धांत के सत्य की परीक्षा हो रही है कि समाज के हित में व्यक्ति का हित पूर्णतः निहित है। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक की बात है, वह मोटे रूप में इस सिद्धांत से सहमत होते हुए भी साथ ही यह भी मानता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का, उसकी निजता अर्थात् व्यक्ति के नाते अपनी सहज विशिष्टता का अपना कुछ स्वतंत्र मूल्य भी है, जो कि अत्यंत मूल्यवान और इसी नाते रक्षणीय है। जो हो, वह उस सवाल का एक दूसरा ही पहलू है, जिसके विस्तार में जाना यहाँ सम्भव नहीं है। यह एक अलग, बहुत उलझी हुई बहस है, जिसका भी कोई सरल समाधान दिखायी नहीं पड़ता।

अभी तो हम पूँजीवादी अर्थतंत्र के अंतर्गत यंत्रीकरण की बात कर रहे हैं और उसी प्रसंग में मैंने संकेत किया कि आज हमारे सामने अपनी दुनिया की जो तसवीर आ रही है, वह शायद अकेले यंत्रीकरण की नहीं, बल्कि उसके साथ ही पूँजीवादी अर्थतंत्र की भी देन है। इस अर्थतंत्र के भीतर से कैसी जीवन-प्रणाली और कैसे जीवन-मूल्य निकलते हैं, उनको समझने के लिए हम किसी किताब से ज्यादा अपने ही अनुभव का सहारा ले सकते हैं। आदमी-आदमी के बीच केवल अर्थ का, स्वार्थ का संबंध रह गया है। सहज मानव-संबंध दिनों-दिन लुप्त होते जाते हैं। धन की और धनी आदमी की पूजा होती है, बिना यह पूछे कि वह धन उसने ईमानदारी से पाया या ग़बन करके, घूस खाकर, चोरी-डाके से। संगठित श्रमिकवर्ग को छोड़कर, जो अपने अकेलेपन के दारुण अनुभव के बीच होकर अपने हितों के लिए एक होकर लड़ना सीखता है और उस सीमा तक पूँजीवादी अर्थतंत्र के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है, हर आदमी अकेला है और दूसरे का प्रतियोगी है, क्योंकि इस उत्पादन-प्रणाली का यही स्वभाव है — और समाज

के नियम ऊपर से नीचे को चलते हैं। और फिर जहाँ इतनी आपाधापी, आपस की इतनी छीनाझपटी है, वहाँ तनाव तो होगा ही। जहाँ आदमी शरीर से, मन से इतना ज्यादा अपने भीतर सिमटा हुआ दूसरे के प्रति इतना संशयालु और सतर्क होकर जी रहा है; जहाँ सत्रहवीं सदी के अंग्रेज़ दार्शनिक हॉब्स के शब्दों में आदमी और आदमी के बीच भेड़िये का संबंध है (होमो होमिनी लूपस) और उदार भावनाओं के लिए, संवेदनाओं के लिए कहीं स्थान नहीं है, वहाँ घुटन भी होगी ही। जहाँ सफलता ही एकमात्र कसौटी हो और यह पूछना शास्त्रविरुद्ध कि यह सफलता किस रास्ते से होकर आयी !, वहाँ किन्हीं दूसरे महान्, पर असफल, मानव-मूल्यों के लिए स्थान भी कहाँ है ? परिणाम ? देवत्व से स्खलित होकर यहाँ आया हुआ यह आदमी नाम का प्राणी, हर आदमी, अलग अपनी तंग अँधेरी दुनिया में अकेला कीड़ों-मकोड़ों की ज़िंदगी जी रहा है। जहाँ अपने से बाहर वह किसी को नहीं देख पाता और उसका अपना छोटा-सा स्वार्थ ही सब कुछ है, जहाँ उसे किसी ज्योति का स्पर्श नहीं मिलता और उसकी आत्मा दरिद्र है और होती चली जा रही है, जहाँ उसकी मानव-संवेदनाएँ भोंथी हो गयी हैं, जहाँ किसी विराट् के दर्शन उसको नहीं होते और वह आत्मिक रूप से दिनोंदिन नाटा-बौना होता चला जाता है...

सचमुच बड़ी भयानक तसवीर है, जिसकी सच्चाई से इन्कार भी नहीं किया जा सकता और जिसको ठीक करने का कोई आसान नुस्ख़ा भी नहीं है। किर्केगार्द के सामने आदमी और उसकी समाज-रचना की कुछ ऐसी ही तसवीर है, जिसका आतंक उसके मन पर है और यही आतंक भाव प्राणघाती निराशा का रूप ले लेता है, जब वह अपनी द्रष्टा-मनीषी की आँखों से देखता है कि इतिहास के इस क्रम को रोकने का कोई उपाय नहीं है। तो भी अपने उस पराजय-बोध के भीतर से भी वह विद्रोह का स्वर मुखरित करता है, अपनी आत्मा के प्रति —जो कि उस परमात्मा का ही दर्पण है — हर उत्तरदायी निष्ठावान् ईसाई का एकांत विद्रोह।[1]

यह आकस्मिक बात नहीं है कि अपने जीवनकाल में किर्केगार्द को तनिक भी मान्यता नहीं मिली। पूंजीवादी अर्थतंत्र तब ऊर्ध्वमुख था और उसके भीतर निहित इन चित्य संभावनाओं को तब किसी द्रष्टा-मनीषी की आँखें ही देख सकती थीं। और न यही आकस्मिक बात है कि लगभग सौ बरस के अज्ञातवास के बाद उसका पुनरुद्धार कुछ-कुछ पहले महायुद्ध के बाद और विशेष रूप से दूसरे महायुद्ध के बाद हुआ। अस्तित्व के जिन मौलिक प्रश्नों की ओर किर्केगार्द ने संकेत किया था, वे आकाशभेदी विस्फोट के

रूप में आँखों के सामबे छितराये पड़े थे। लाखों हताहत लोगों के शरीर भी और कोड़ियों अच्छे-अच्छे मीठे-मीठे खोखले आदर्श भी। बीस बरस के भीतर दो-दो महायुद्धों में कितने शहर, कितने गाँव बर्बाद हुए, कितनी जानें गयीं, कितने परिवार टूटे, कितने घरों के दिये बुझे, सुन्दर-सजीले जवानों की पूरी-पूरी पीढ़ी साफ़ हो गयी — और बातें निरंतर शांति और विश्व-बंधुत्व की होती रहीं। सब कोरी बातें थीं, जो एक-दूसरे को ठगने के लिए की जा रही थीं। असलियत इतनी ही है कि सब देशों के प्रभुवर्ग के अपने कुछ आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ हैं और विशाल जनसमाज मूलतः पशु है, उतना ही मूर्ख और उतना ही हिंस्र, और लालची और घमंडी, जो ज़रा-सा कोई लालच देने पर, ज़रा-सा पीठ थपथपाने पर, जरा-सा उकसाने पर मरने-कटने के लिए मैदान में कूद पड़ता है। जरा भी अचरज की बात नहीं कि उस आग और खून की नदी में उसकी तमाम पहले से चली आती आस्थाएँ, विश्वास, जीवन-मूल्य ध्वस्त होकर बह गये! और उसके साथ ही, इसी काल में, थोड़ा आगे-पीछे, मन को तोड़नेवाली कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि एक वह नयी आस्था भी जो मन में अंकुरित हो रही थी, समाजवाद के प्रयोग में, वह भी टूट गयी या कम-से-कम उसकी भी बुनियादें हिल गयीं। संसार-भर के जागरूक विचारकों को सोवियत देश में होनेवाले समाजवाद के प्रयोग ने अपनी ओर आकर्षित किया था और बड़ी-बड़ी आशा और उमंगें लेकर लोग उसकी तरफ़ दौड़े थे, लेकिन जब स्वतंत्र चिन्तन के अपराध में लोगों पर किये गये अत्याचारों और हत्याकांडों की कहानियाँ धीरे-धीरे बाहर भी पहुँचने लगीं — स्तालिन के जिन अपराधों का ब्योरा आगे चलकर ख्रुश्चेव ने दिया — तो लगा कि अब कहीं कुछ भी नहीं बचा, जो मन को सहारा दे सके, जो मनुष्य को इस अँधेरी कालरात्रि से निकालकर एक नये सूर्योदय की ओर ले जा सके। और तभी 'डार्कनेस ऐट नून', 'द गॉड दैट फ़ेल्ड', '१९८४', 'ऐनिमल फ़ार्म,' 'द नेकेड गॉड' जैसी किताबें लिखी गयीं, जो सब खण्डित आस्थाओं के घोषणापत्र थे। मैं उनकी वकालत नहीं कर रहा हूँ, न उनके सब निष्कर्षों को ठीक मानता हूँ, और न यही मानता हूँ कि जिनकी आस्थाएँ टूटीं, उनकी उस आस्था में भी कहीं कोई त्रुटि न थी जो वह टूटकर ही रह गयी। यहाँ पर मेरा उद्देश्य लोगों की उस समय की मनःस्थिति का एक चित्र देना भर है। मनुष्य के अस्तित्व को लेकर किर्केगार्द का निराशा का स्वर, किसी अंधी गली के सिरे पर पहुँचकर भय से ठिठक जाने का स्वर, मनुष्य की विकलांगता का स्वर, मनुष्य की अंधी नियति के आगे पराजय-बोध का स्वर — जहाँ प्रतीकात्मक विद्रोह से अधिक

दूसरा कुछ संभव नहीं — मनुष्य के अकेलेपन और उसके उद्योग की व्यर्थता का स्वर, अस्तित्व की निस्सारता का स्वर, सब कुछ प्रस्तुत मनःस्थिति से बहुत अच्छी तरह मेल खाता था और इस प्रकार सार्त्र और कामू ने, हाइडेगर और यास्पर्स ने युग के अपने नये संदर्भ में किर्कगार्द को फिर से उपलब्ध किया और अपनी-अपनी व्याख्या के साथ संसार के सामने नये रूप में रक्खा। इसी व्यर्थता-बोध में से कामू के ऐब्सर्ड-बोध की सृष्टि हुई, जो उसने सिसिफ़स के मिथक के माध्यम से भी प्रस्तुत की, उस अभिशप्त देवता की कहानी जिसका यही दण्ड और यही अभिशाप था कि वह एक भारी पत्थर को बड़ी मुशकिल से ठेलकर पहाड़ की चोटी पर ले जाये और शिखर तक पहुँचने के पहले वह पत्थर फिर लुढ़ककर नीचे आ जाये, और फिर वही...और फिर वही...जाने कितने युगों, कितनी शताब्दियों तक ! कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक युग के सन्दर्भ में यह एक बहुत बड़ी सच्चाई थी, जिसको कामू ने रेखांकित किया था।

व्यक्ति के जीवन में, समाज के जीवन में कितना कुछ है, जो आदमी के जीने की, कुछ भी करने की निपट व्यर्थता को जैसे हर समय हमारे आगे रेखांकित करता रहता है — और हमारे अपने देश में तो और भी, जो असंगतियों का इतना बड़ा पिटारा है, जहाँ की धरती ढोंग और ढकोसले के लिए जैसे विशेष रूप से उपजाऊ है, जहाँ कथनी और करनी में साम्य की बात कहनेवाले पागल समझे जाते हैं क्योंकि उसकी उलटी बात समाज की प्रचलित रीति-नीति का साधारण सर्वमान्य अंग है। अपने कुछ अति-आधुनिक लेखकों की बातें सुनकर लगता है, कि जैसे वो रातों-रात मध्ययुगीन बैलगाड़ी-युग से सीधे रॉकेट-युग में पहुँच गये हैं ! इस पाखंडभूमि में (या कहीं भी) 'ऐब्सर्ड' की क्या कमी ! जिस आदमी ने कल देश के लिए बरसों जेल की सजा काटी थी, लाठी खायी थी, वह शासन की गद्दी पर पहुँचते ही चोर और गिरहकट बन जाता है। कचहरी में जाइए, जगह-जगह आपको लिखा मिलेगा 'घूस लेना और देना पाप है' (अपराध नहीं पाप ! और पापों की बड़ी-से-बड़ी गठरी एक बार गंगा में डुबकी लगाने या एक बार श्रीमद्भागवत् के दो-चार पन्नों का पाठ या श्रवण करने से कट जाती है !) और चपरासी से लेकर देश का प्रधान मंत्री तक जानता है कि घूस दिये बिना कचहरी का कोई काग़ज़ अपनी जगह से नहीं हिलता। हर इजलास में गांधी जी का वह कुछ-कुछ अभयमुद्रा-वाला चित्र लगा हुआ है, और उससे किसी और को अभय मिलता हो या न मिलता हो, घूस लेनेवाले को ज़रूर मिलता है ! और चूँकि रुपये का मूल्य गिर गया है, इसलिए जो काम पहले एक रुपये में होता था, वही अब पाँच रुपये में होता है — अभयमुद्रा-वाली गांधीजी

की पाँच उँगलियों का शायद यही प्रतीकार्थ रह गया है ! साधू बाबा संन्यासी हैं, भीख माँगकर पेट चलाते हैं और सूद पर रुपया भी ! हर आदमी नीति और सदाचार का ठेकेदार है, हर स्त्री को माँ-बहन कहता है, वैसी कोई चर्चा हो तो छी-छी करके कान पर हाथ रखता है — और अपनी 'एक्सरे' निगाहों से हर औरत के कपड़े उघाड़ता रहता है । पुजारी जी पद्मासन लगाकर राम-नाम जपते हैं और आँख की कोर से सामने बैठी या पास ही गंगाजी में नहाती किसी युवती का अंग-विन्यास भी देखते जाते हैं ! असंख्य नलकूप बने हैं — मगर उनमें पानी नहीं है और मंत्री जी अपने बनवाये हुए उन्हीं सूखे नलकूपों की दुहाई देकर फिर वोट माँगते हैं और जीत जाते हैं, एक ऐसे आदमी के ख़िलाफ़, जिसने उन्हीं गाँववालों की सेवा में अपने को मिटा दिया ! तक़ावी ग़रीब किसानों को नहीं, धनी किसानों को मिलती है ! कुँआ खोदने और उसकी पक्की जगत बनवाने के लिए किसानों को क़र्ज़ मिलता है, लेकिन न कहीं कुँआ खुदता है और न पक्की जगत बनती है, सब पैसा बाँट-चूँट कर खा-पका लिया जाता है । और जो कोई आदमी अपनी नेकी और देशप्रेम के झोंक में इस बात को किसी अधिकारी के आगे उघाड़े, उसी को किसी मुक़दमे में फाँसकर सज़ा दे दी जाती है ! फिर जब अकाल पड़ता है, तो अकाल-पीड़ितों के लिए चंदा उगाहा जाता है, फिर उस चंदे से अनाज और कम्बल खरीदा जाता है, फिर उसे अकाल पीड़ितों तक पहुँचाया नहीं जाता, रोककर रखा जाता है कि ठीक चुनाव के पहले लोगों को दिया जायेगा, जिसमें किसी एक खास दल को अपने चुनाव में उसका लाभ मिल सके — और अकाल के मारे लोग यह देखते हैं, बहुत गुस्सा करते हैं और फिर उसी दल को जाकर अपना वोट दे आते हैं ! 'ऐब्सर्ड' जीवन-स्थितियों की कुछ कमी नहीं, जितनी चाहें गिनाते चले जाइए । जहाँ कहीं भी कोई बेतुकापन है, बेढंगापन है, जड़ता है, किसी अच्छे काम में किसी अमूर्त्त शक्ति के आगे आदमी के श्रम की व्यर्थता है और असत्य की, अनर्गल की, अन्याय की, असुंदर की जीत है, वहीं 'ऐब्सर्ड' की स्थिति है और उसी का बोध मोटे अर्थों में 'ऐब्सर्ड' का बोध है । वह जीवन के समान ही व्यापक है । व्यक्ति, समाज, चिंता, भावना, धर्म, इतिहास, राजनीति आदि सभी जगह उसको देखा जा सकता है ।

मैं पैंतालीस बरस का आदमी हूँ । मुझे जो कुछ अपनी ज़िंदगी में करना था या नहीं करना था, मैंने कर लिया; जो-कुछ दुख-सुख देखना था, वह भी देख लिया, और फिर नीम-बीमार सा आदमी हूँ, अगर अब मुझे मौत आ जाये, तो उसमें कुछ ऐसी बुरी बात नहीं । पर मैं बैठा हूँ और मेरा अठारह बरस का

जवान, हट्टा-कट्टा बेटा, जिसमें बड़ी प्रतिभा थी, जो अपनी ज़िंदगी में न-जाने कितना क्या करता और जिसके सामने अभी अपनी पूरी ज़िंदगी देखने को, भोगने को पड़ी थी, चला गया और ऐसी एक बीमारी में चला गया, जिसका क ख ग भी आज के उन्नत विज्ञान को नहीं मालूम। यह भी एक 'ऐब्सर्ड' स्थिति है। इसे हम ईश्वरीय न्याय का 'ऐब्सर्ड-बोध' कह सकते हैं।

दुनिया के किसानों-मज़दूरों की दृष्टि से वह बड़ी खुशी का दिन था, जब चीन में भी किसान-मज़दूर राज हुआ और सब जगह इसी तरह उसकी खुशी भी मनायी गयी। सोवियत रूस को भी अपने गोत्र में एक इतने बड़े महादेश को आते देखकर कितना हर्ष हुआ होगा, सहज ही कल्पना की जा सकती है — और आज चीन का सबसे बड़ा दुश्मन सोवियत रूस है! यह इतिहास का ऐब्सर्ड-बोध है। जीवन के आकलन से ही यह 'ऐब्सर्ड-बोध' बनता है। जहाँ इतना कुछ उल्टा-पुल्टा, बेतुका, बेसिरपैर है, वहाँ शायद इसी तरह सिर के बल खड़े होकर उसे ठीक-ठीक देखा और समझा जा सकता हो। इसी की एक शाखा वह है, जहाँ मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि की व्यर्थता के बोध से अ-तर्कबुद्धि या 'इर्रैशनल' की ओर जाता है और सचेतन से अधिक महत्व अचेतन और उपचेतन मन का हो जाता है।

इन्हीं सब व्यर्थताओं और विभीषिकाओं के बीच होकर, उनका बोझ मन पर ढोते हुए, पुरानी आस्थाओं को खोकर और नयी किसी आस्था के अभाव में जो एक भावबोध बनता है, घोर निराशा और अविश्वास जिसका आवश्यक तत्व है, शायद उसी को आधुनिक भावबोध की संज्ञा दी जाती है।

कोई उसकी स्थापनाओं से सहमत हो या न हो, यह निर्विवाद है कि यह एक गंभीर जीवनदृष्टि है। और जो लोग उसको अपनी जीवनदृष्टि कहकर प्रचारित करते हैं, उनके विरुद्ध इन पंक्तियों के लेखक का यही मूल अभियोग है कि उन्होंने उसको अपने चैतन्य के आधार पर गंभीरता से समझने का यत्न नहीं किया। अधिकांश नये लेखकों के लिए यह भी एक नया फ़ैशन है, जिसे उन्होंने नयी तर्ज़ के जैकेट या नयी डिज़ाइन की टाई की तरह पहन लिया— उसके मर्म में पैठी हुई चिन्तन की, भावना की, मानव-नियति के प्रति दायित्वबोध की गहरी पीड़ा ने उनको नहीं छुआ। और मैं तो इसे भी अपनी इस पाखंड-उर्वरा भूमि का ही प्रसाद मानता हूँ कि आधुनिक-भावबोध भी यहाँ आकर एक पाखंड बन गया! ऐसी बात न होती, तो इस आधुनिक भावबोध के संदर्भ में भी आज स्थिति कुछ और होती, मध्ययुगीन भारत का अपने ढंग से कुछ नया संस्कार किया जा सकता या अगर वह भी नही तो कम-से-कम इस हास्यास्पद

स्थिति से तो मुक्ति मिल ही जाती कि हमारा 'आधुनिकताभिलाषी' अपने देश-काल से नितांत उपराम होकर, आवाँ-गार्द बनने की धुन में सागर-बिलासपुर या बलिया-गोरखपुर जैसी जगहों से निकलकर, बीच में कहीं पड़ाव न करता हुआ, मनसा सीधे पेरिस और न्यूयार्क पहुँच जाता है और वैसा ही ठगा-सा खड़ा रह जाता है, जैसे द्वारका पहुँचकर भगवान कृष्ण की अट्टालिका के सामने सुदामा जी ! देशी-ब्राण्ड आधुनिकता की स्थिति भी बहुत कुछ वैसी ही है । अपनी उस चकाचौंध से निकलकर प्रकृतिस्थ हो, तब तो उससे कुछ बात हो ! अभी तो वह साहब बनने के पीछे डंडा लेकर पड़ा है । वहाँ बियर-शराब पानी की तरह पी जाती है, इसलिए उसका भी पीना ज़रूरी है और अगर उतने धड़ल्ले से पी सकना किसी वजह से मुमकिन न हो, तो कम-से-कम उसकी चर्चा तो उठते-बैठते की ही जा सकती है ! 'सेक्स' के मामले में वहाँ बड़ी स्वच्छंदता है — और 'सेक्स' के अपराध इतने अधिक होने लगे हैं कि स्वयं वहाँ के विचारकों के लिए चिंता का कारण बन गये हैं — इसलिए उसका नंगा नाच दिखलाना यहाँ भी आधुनिकता की एक ज़रूरी पहचान है कि जैसे इस यौन-क्रांति से ही संसार का नया पुनर्जन्म होना है !

मेरी बात को गलत न समझा जाये । मैं भी 'सेक्स' के मामले में खुलेपन का हामी हूँ । मैं समझता हूँ कि ज़ोला और फ्रायड-जैसे लोगों ने इस चीज़ को खुली हवा और धूप में खड़ा करके बहुत बड़ा काम किया है और ढकोसलों से, पर्दे के पीछे चलनेवाले विराट् पापाचार से संसार को मुक्ति दिलायी है, आदमी को अधिक प्रकृत भूमि पर रखकर देखने और समझने का मौका दिया है । लेकिन खुलापन और विषय से आसक्ति या दुराग्रह एक ही चीज नहीं है । चीज को उसके ठीक संदर्भ या परिप्रेक्ष्य में रखकर न देख पाने से ही ऐसी स्थिति पैदा होती है । यही नहीं, बाहर से भी जो साहित्य आ रहा है, उसमें सेक्स का प्राबल्य विशेष रूप से दिखायी पड़ता है । इसके कारणों की खोज एक अलग विषय है, पर मेरा अनुमान है कि इसके पीछे कारणों की एक पूरी शृंखला है, जिसे उस मनःस्थिति के संदर्भ में शायद समझा जा सके, जिसका जिक्र ऊपर किया गया है । कुछ तो पूँजीवादी संस्कृति के इस युग में नैतिक-मूल्यों का ह्रास (क्योंकि समाजवादी देशों में निश्चय ही यौन वृत्ति का यह आस्फालन नहीं दिखायी पड़ता, न उनके जीवन में और न उनके साहित्य में) और (प्रचार के परम शक्तिशाली साधनों-द्वारा हिस्टीरिया की सीमा तक प्रचारित) पिछले महायुद्ध के महाविनाश और आशंकित परमाणु-युद्ध के सर्वनाश की तांडवछाया में अपने क्षण को जी लेने, भोग लेने की लालसा

('ईट, ड्रिंक, ऐंड बी मेरी फ़ॉर टुमारो वी डाइ' जो पहले दार्शनिक-सी कविता थी, आज जीवन के एक भयंकर सत्य की तरह हमारी आँखों के सामने है) और कुछ उस धन-पूजक सफलता-पूजक समाज के सभी मूल्यों के संपूर्ण निषेध का प्रतिफलन — और हमारे सदाचार का ढकोसला करनेवाले देश में वर्जनाओं से दमित वासनाओं का विस्फोट और, शायद कहीं उन वर्जनाओं को तोड़ने का आग्रह, शायद इनमें से कोई कारण हो, या सभी कारण हों। या कोई भी न हो। जो भी बात हो, किसी बहाव में बहने की अपेक्षा अपने विवेक और अपनी स्थिर मति से किसी निर्णय पर पहुँचकर कुछ करना अधिक अच्छा हुआ करता है और शायद, मन की सबसे बड़ी और सबसे सच्ची आधुनिकता यही है। सब पर से हमारा विश्वास उठ गया है। कोई अब विश्वास के योग्य नहीं रहा। लेकिन जहाँ सब-कुछ मिट जाता है, वहाँ भी आदमी को अंततः अपनी आँख और अपने विवेक का आश्रय लेना पड़ता है। वही समय आज है।

और यहीं पर मेरा मन, आज के युग के एक छोटे आदमी का मन, उस 'आधुनिक' भावबोध को पूरी तरह आधुनिक नहीं मान पाता। विशेषकर इसलिए कि मेरा मन एक भारतीय का मन है। संसार को निस्सार माया माननेवाला दर्शन उनके लिए नयी चीज़ हो, हमारे लिए कोई नयी चीज़ नहीं है। हमने अपनी घुट्टी के साथ उसको पिया है, इसीलिए जानते हैं कि वह क्या चीज़ है और कहाँ ले जाती है। दूसरी ओर चार्वाक् के इस देश के लिए पश्चिम का यह अभिनव भोगवाद भी कोई नयी चीज़ नहीं है। उसी तरह तांत्रिकों के इस देश में, जहाँ सैकड़ों साल तक समान भाव से मरघट पर मुर्दा स्त्री के साथ और वासस्थान पर नौ-दस-ग्यारह साल की अक्षतयोनिका लोलीटाओं के साथ रमण करके अपने को 'मंत्र-सिद्ध' किया गया हो, सेक्स के उस रहस्यजाल में भी कोई नयापन नहीं है, जिसे आज ऐसे-ऐसे विदग्ध कलाकार इन्द्रधनुषी रंगों में बुन रहे हैं! यह सभी कुछ हम देख चुके हैं, और जहाँ बहुत पुरातन होने की बहुत बुराइयाँ होती हैं, वहाँ उसका एकाध सुफल भी होता ही है। दर्शन हमारे घर की बहुत पुरानी चीज है। सदियों हम उससे खेले हैं और इतने आत्मविभोर होकर खेले हैं कि और कुछ करने का हमें ध्यान ही नहीं रहा। इसीलिए यह आकस्मिक बात नहीं है कि पश्चिम के विचारक आज इतनी तेजी से भारतीय योग की ओर झुक रहे हैं और गिन्सवर्ग भी कुछ पाने के लोभ से ही यहाँ भागा आता है। लेकिन हमें खुद पता नहीं कि हमारे पास अपना क्या है। कौन जाने कुछ हो ही, इस दरिद्र देश के पास! उसी को अपने ज्ञान-विज्ञान, अपने लोकमानस और स्वयं अपने भीतर टटोलकर देखने की जरूरत है। वहीं हमें आत्मा की अमरता

का दर्शन भी मिलेगा, नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। (गीता का एक नया अनुवाद, किन्हीं पुरोहितस्वामी का किया हुआ और टी० एस० एलियट के प्रकाशन-संस्थान 'फ़ेबर ऐंड फ़ेबर' से प्रकाशित मेरे सामने रक्खा है। एलियट के काव्य पर भारतीय दर्शन, विशेष रूप से उपनिषदों का प्रभाव भी सर्वविदित है, और एज़रा पाउण्ड भी आलोक के संधान में पूर्व की ओर ही भागा। वह चीन गया और चीन का प्राचीन दर्शन भारतीय दर्शन का कितना ऋणी है, यह सब विद्यार्थी जानते हैं।) एक ओर संसार की निस्सारता, मरणधर्मिता और दूसरी ओर आत्मा की अमरता, मैं ठीक से समझ नहीं पाता, पर कभी-कभी मुझे लगता है कि भारत देश अपनी सांघातिक बुराइयों और दुर्बलताओं के बीच भी जो जीवित है, उस की इस जीवनीशक्ति का रहस्य कदाचित् इन्हीं दोनों ध्रुवों के पारस्परिक तनाव में है, और कौन जाने उसी में आज के इस अभिशप्त युग के लिए भी इस देश का कुछ संदेश हो।

अस्तित्ववाद के दर्शन पर आधारित आज का यह जो आधुनिक भावबोध है, उसके सत्य से आँख नहीं चुरायी जा सकती। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि वह एकांगी दृष्टि है और यह उसकी एकांगिता का ही आग्रह है, जो उसका पूर्वग्रह बन गया है कि वह मनुष्य का, मनुष्य की नियति का कुत्सित और अंधकारपूर्ण रूप ही चित्रित करता है। वही एकांगी दृष्टि, कालान्तर में अनुयायियों कीआँख का रंगीन चश्मा बन जाती है। यही सांघातिक स्थिति है, क्योंकि यहीं पर आदमी जीवन के अपने अनुभव और अपनी उपलब्धि को झुठलाकर दूसरे की बोली बोलने को प्रेरित होता है। मैं नहीं मानता कि संसार में केवल अंधकार है। अंधकार भी है, ज्योति भी है। कदर्य भी है और उदात्त भी है। कौन कम, कौन ज्यादा, इसको तौलने की कोई तराज़ू नहीं बनी और न शायद उसकी जरूरत है, क्योंकि यह तौलना अपने भीतर की, अपनी आत्मा की तराज़ू को छोड़कर और कहीं सम्भव भी नहीं। जहाँ सब तरफ़ से वंचित होकर आदमी अपना विश्वास खो बैठा हो, वहाँ उसकी आधुनिकता की यह भी एक प्रतिश्रुति है कि वह फिर अपने अनुभव और अपने विवेक से बढ़कर किसी को भी न माने। मेरा विश्वास है कि जो लोग अपने लेखन में सदैव कदर्य की ही अवतारणा किया करते हैं, उनके अपने अनुभव की परिधि में भी ऐसे लोग होंगे, ऐसी घटनाएँ होंगी, जो जीवन को एक नया सम्बल देती या दे सकती हैं। यह आधुनिक लेखक अपने उस अनुभव-खंड को दबा क्यों जाता है? इसलिए कि ऐसा करना आधुनिक लेखन की परिभाषा में नहीं आता? पर यह कलाकार के सोचने का ढंग नहीं है, नफ़े-नुकसान की चिंता करनेवाले बनिये के सोचने का ढंग है। और यह नया लेखक समझे या न समझे,

यहीं से उसके लेखन का सत्व समाप्त होने लगता है और वह छद्म लेखन करने लगता है। आधुनिक हो, पुराना हो, सच्चा लेखन वही है, जिसमें लेखक अपने देखे हुए, अपने भोगे हुए को अपने कलात्मक सामर्थ्य-भर अधिक-से-अधिक पूर्णता के साथ चित्रित करना चाहता है। अगर आदर्शवाद के नाम पर, मनुष्य के जीवन और चरित्र के अंधकार-पक्ष को बचा जाने की पुराने लेखक की प्रवृत्ति उसके लेखन की 'इंटीग्रिटी' को खंडित करती थी, वह सत्य-लेखन न रहकर फेनिल उच्छ्वास बन जाता था, तो उसी तरह आज का आधुनिकतावादी लेखक जब अपने यथार्थ-चित्रण के नाम पर मनुष्य के जीवन और चरित्र के ज्योतिपक्ष को दबा देता है, अनदेखा कर जाता है, तो वह भी अपने लेखन की 'इंटीग्रिटी' को खंडित करता है और उसका लेखन एक दूसरी तरह का फेनिल उच्छ्वास बन जाता है। जीवन का सत्य दोनों के हाथ से छूट जाता है, क्योंकि जीवन का सत्य उसके द्वंद्व में है। पड़ोसी वियतनाम के जीवन और मरण के संग्राम में जहाँ एक ओर हमें आदमी का और युग का नृशंस आततायी का रूप देखने को मिलता है, वहाँ दूसरी ओर आत्मा का ऐश्वर्य भी, जो मुझे एक स्वाधीनताप्रेमी नागरिक के रूप में ही नहीं बल्कि एक भिन्न धरातल पर मेरे भीतर के सृजनशील लेखक को भी संबल पहुँचाता है। हमारे छोटे-से दैनंदिन जीवन में हो या इतिहास के रंगमंच पर, आत्मा, के ऐश्वर्य की झाँकी देनेवाले प्रकरणों का भी अभाव नहीं है। एक ओर जहाँ युग का सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक ध्वंस सार्त्र के लेखन में बोल रहा है, वहाँ दूसरी ओर, अपने देश के बर्बर आक्रामकों के विरुद्ध फ्रांसीसी जनगण का अद्भुत प्रतिरोध संग्राम भी है, जिसे सार्त्र ने भीतर से देखा और जाना, और उस क्रिया में मनुष्य का वह सुन्दर-सबल रूप भी देखा, उसके भीतर का आत्मिक ओज भी देखा — वह कहानी भी उसने क्यों नहीं कही? क्या वह कहने योग्य कहानी न थी? क्या उस अनुभव-खंड को, जो कलाकार का साक्ष्य है, अनदेखा करने में, उस सीमा तक वह चित्र झूठा नहीं पड़ जाता? वे सामाजिक और नैतिक और आध्यात्मिक निष्कर्ष एकांगी नहीं हो जाते?

अगर यह आधुनिक लेखक यह समझता है कि इस कदर्य को रेखांकित करना उस पिछले फेनिल उच्छ्वास को काटने और समग्र के संतुलन को ठीक करने की दृष्टि से आवश्यक है, तो मैं समझता हूँ कि यह भी उसकी भूल है। क्योंकि सचाई यह है कि वह फेनिल उच्छ्वास पहले से ही आप अपनी मौत मरा हुआ है, उसने कभी आदमी के मन को नहीं छुआ — उसी तरह, जैसे यह एकांत कदर्य नहीं छूता। अगली बार जब कोई रचना पढ़ते समय आप पुलक का अनुभव करें, आपके रोयें भुरभुरायें, तो ध्यान दीजिएगा कि वह कौन-सा

और कैसा स्थल है । वह न तो देवत्व के फेनिल उच्छ्वास का स्थल होगा और न कदर्य के अभिषेक का, बल्कि इन दोनों छोरों के बीच कहीं, जहाँ आपके भीतर के सहज आदमी का मर्म है, जिसकी मिट्टी में जहाँ एक मन पशुत्व है, वहाँ तोला भर देवत्व भी ।

मैं स्थिति को इतनी भयावह नहीं मानता पर जो ऐसा मानते हैं, उनसे निवेदन है कि जहाँ सब तरफ अँधेरा हो, कालरात्रि का अँधेरा, वहाँ एक दिया ही सूर्य है और जहाँ सब तरफ धू धू करता हुआ रेगिस्तान फैला हो, वहाँ एक दूब का उग आना भी क्रांति है — इस सत्य को इस कठिन समय में अनदेखा करने का हमें बहुत सांघातिक मूल्य चुकाना पड़ सकता है । समय कठिन है, इसीलिए यह सत्य हमारी आत्मा के हस्ताक्षर का और भी प्रत्याशी है ।

साहित्य क्यों ?

सबसे पहला सवाल तो यही है — लेखक लिखता क्यों है, पाठक पढ़ता क्यों है ?

इसी का जवाब आदमी ढंग से दे ले तो बहुत से झगड़े तो आप से आप सुलझ जाते हैं।

लेखक और पाठक, दोनों दो भिन्न दिशाओं से अपनी यात्रा शुरू करते हैं लेकिन पहुँचते एक ही बिन्दु पर हैं, जो कि साहित्य के आनन्द का बिन्दु है। लेखक का आनन्द और पाठक का आनन्द एक ही चीज नहीं है, दो अलग चीजें हैं। अलग, लेकिन विरोधी नहीं। विरोधी होतीं तो उनका मिलन ही कैसे होता। मिलन होता है, इसी से सिद्ध है कि दोनों में कहीं कुछ समान है। उसे ढूँढ़ने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। लेकिन हाँ, खुली आँखों से देखने की जरूरत है। क्योंकि बहुत बार आँखों पर अगर कोई रंगीन चश्मा चढ़ा हो या आदमी किसी दूसरे ही सोच में पड़ा हो तो सामने की चीज भी नजर नहीं आती।

तो फिर यह क्या है जो दोनों के बीच समान है ? यही कि लेखक भी आदमी है और पाठक भी आदमी है और दोनों के जीवन-अनुभवों में परिवेशगत भिन्नताओं के होते हुए, संवेदना के स्तर पर मूलतः बहुत कुछ समान होता है।

अतः बात की तह तक पहुँचने के लिए लेखक और पाठक दोनों की ही ओर से प्रश्न पर विचार करना सार्थक होगा।

लेखक क्यों लिखता है ? दुनिया के हजार कामों में से यही एक काम वह क्यों अपने लिए चुनता है ? किसी डाक्टर-हकीम ने तो उसको बताया नहीं, उल्टे माँ-बाप नाक-भौं सिकोड़ते हैं, समझते हैं लड़का बहेतू हो गया, किसी दफ्तर में बाबूगिरी करता या बिसातबाने की एक छोटी-सी दूकान ही खोल लेता तो चार पैसे की आमदनी होती, वह भी गयी ! समाज की जो वर्तमान दशा है, लेखक को अपने लेखन से विशेष कोई प्रतिष्ठा मिलती हो, ऐसी भी बात नहीं। तब फिर लेखक क्यों लिखता है ? उसके लिखने का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है ?

एक प्राचीन आचार्य का मत है कि लेखक यश के लिए लिखता है (यशसे)

अर्थोपार्जन के लिए लिखता है (अर्थकृते) कान्ता के समान मीठे-मीठे ढंग से उपदेश करने के लिए लिखता है, (कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे), अमंगलकारी तत्वों का नाश करने के लिए लिखता है, (शिवेतरक्षतये)।

हम समझते हैं कि लेखन के ये सभी प्रयोजन ठीक ही बताये गये हैं, लेकिन तभी तक जब तक कि लेखक के पास वह समग्र दृष्टि है जो अलग-अलग इन सब प्रयोजनों को एक धागे में पिरोकर ले चलती है, जैसी कि हमारी समझ में इस आचार्य की दृष्टि है; वह उन प्रयोजनों को अलग-अलग इकाइयों के रूप में नहीं उस एक बृहत्तर इकाई के रूप में देखती है जो उन सबके योग से बनी है।

आगे हमें इसी की परीक्षा करके देखना है कि हमारे देश-काल के आधुनिक संदर्भ में और साहित्य की हमारी आधुनिक भाषा के मुहावरे में हम ऐसी किसी बृहत्तर इकाई को आयत्त कर पाते हैं या नहीं। लेकिन उसके पहले हम यह भी परीक्षा करके देखना चाहेंगे कि यशसे-अर्थकृते आदि को पृथक्तः लेखन के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है या नहीं।

यश की भूख किसे नहीं होती ? लेखक को तो विशेष रूप से होती है। उसे महान् लोगों की अन्तिम दुर्बलता कहा गया है, लास्ट इन्फ़र्मिटी ऑव् नोबुल माइन्ड्स, जो कि नितान्त सच है। उसी प्रकार अर्थलाभ भी सभी करना चाहते हैं — सबसे पहले तो इसलिए कि वह जीवन-रक्षा के लिए एक आवश्यक वस्तु है, और कुछ इसलिए भी कि उससे हमारे समाज में व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिलती है। लेकिन क्या इस नाते यह कहना ठीक होगा, कि सच्चा लेखक, ऐसा लेखक जिसके लिए लेखन एक गम्भीर कर्म है, अर्थोपार्जन के लिए या केवल अर्थोपार्जन के लिए लिखता है ? हम जानते हैं कि ऐसे भी लेखक होते हैं और काफी बड़ी संख्या में होते हैं जो केवल अर्थोपार्जन के लिए लिखते हैं और अँग्रेजी की घटिया जासूसी या रूमानी किताबों का चर्बा उतारते हुए या उन्हीं के नक्शे कदम पर अपने चूरन के लटकों को ईजाद करके (जिसमें पहले से निश्चित होता है कि उसमें कितने सेर किशोरमन-भावन बचकाना रोमांस होगा, कितने छटांक नंगा सेक्स होगा, और कितने खून होंगे !) धड़ल्ले से अपना कूड़ा-कबाड़ा लिखकर फेंकते जाते हैं और बेहिसाब बिकते हैं। लेकिन इस वक्त हम उनकी बात नहीं कर रहे हैं बलिक उन दूसरे लेखकों की बात कर रहे हैं जो अपने साहित्य के माध्यम से अपनी कोई नयी बात, बड़ी बात, गंभीर बात, अछूती बात हम तक पहुँचाना चाहते हैं, भले बिक्री की दृष्टि से वे उन 'लोकप्रिय' लेखकों के पासंग में भी न बैठते हों। बिक्री

ही साहित्य की एकमात्र कसौटी नहीं है; अगर हो तो यहीं नहीं दुनिया भर में अच्छे से अच्छे लेखक घटिया लेखकों के आगे पानी भरते दिखायी दें। उसकी कसौटियाँ कुछ और हैं जिन्हें और तो और उन 'लोकप्रिय' लेखकों के पाठक भी मन ही मन कमोबेश जानते हैं — और उनसे भी ज्यादा तीखे और कष्टकर रूप में जानते हैं स्वयं वे 'लोकप्रिय' लेखक, सार्थक साहित्य की दुनिया के बाहर-बाहर चक्कर काटते हुए और सर्पदंश जैसी अपनी इस आन्तरिक संज्ञा से भीतर ही भीतर निरन्तर पीड़ित कि उनका लेखन छद्म-लेखन है, जो उन्हें कोई रचना का सुख नहीं देता, जिसके लिए सृजन का आनन्द एक अनजान वस्तु है। हाँ, पैसा मिलता है लेकिन पैसा ही जीवन में सब कुछ नहीं है — जो एक ऐसा सत्य है जिसे पैसेवालों से ज्यादा अच्छी तरह दूसरा कोई नहीं जानता।

अतः हमें यह कहने में रत्ती भर संकोच नहीं है कि अर्थोपार्जन के लिए और अर्थोपार्जन की दृष्टि से किया गया लेखन मूलतः घटिया होता है। कोई महत् साहित्य-रचना और महत् ही क्यों सच्ची साहित्य-रचना अर्थोपार्जन के लिए नहीं की जाती — जिसका यह मतलब नहीं कि उससे अर्थोपार्जन नहीं होता। होता है पर वह उसका मूल प्रयोजन नहीं आनुषंगिक उपलब्धि है, जो कि बिलकुल दूसरी बात है। क्योंकि व्यक्ति का मूल प्रयोजन अगर अर्थलाभ हो तो उसके लिए दूसरे पाँच हजार रास्ते खुले होते हैं, लेखन तो कोई बहुत आकर्षक क्षेत्र नहीं जिसमें अन्त तक भी साधारण आजीविका निकाल पाना कठिन होता है, आरंभिक दिनों की तो बात ही छोड़िए जब न कोई आपको जानता है न कोई प्रकाशक आपकी किताब छापने को तैयार होता है और न किताब अगर किसी तरह छप भी जाय तो आपकी कुछ खास कमाई होती है। आप भी नहीं जानते कब तक आपकी ऐसी ही आर्थिक दुरवस्था रहनी है, एक कोठरी में रहना, मोटे-झोटे फटे-पुराने कपड़े पहनकर सड़कों पर एड़ियाँ रगड़ते घूमना और जो कुछ भी मिल जाय आधे पेट खाकर सो रहना। तब फिर कैसे कहा जाय कि लेखन-कर्म अपनाने के पीछे लेखक का प्रयोजन अर्थलाभ होता है?

रही यश की कामना, सो प्रत्येक लेखक को होती है। तथापि यह कहना भी शायद बहुत ठीक न होगा कि सच्चे लेखन का मूल हेतु यश की लालसा होती है। जब आदमी लिखना शुरू करता है तब कौन ज्योतिषी उसे बता सकता है कि आगे चलकर उसको यश मिलेगा या नहीं, या कितना मिलेगा। वह लिखता है तो अपने भीतर की प्रेरणा से, भविष्य को वह क्या जाने, वह तो एक बन्द किताब है। कब किस लेखक को अपनी किस रचना के लिए यश मिलेगा और कितना मिलेगा, इसका संकेत देनेवाला कोई पंचांग आज तक नहीं

बन सका । बहुत बार देखने में आता है कि बड़े से बड़े लेखक को उसके जीवन-काल में उसका प्राप्य यश नहीं मिलता, मरने के बाद मिलता है । शेक्सपियर अपने समसामयिकों में सर्वाधिक विख्यात कवि और नाटककार नहीं था । भवभूति ने जब अपना उत्तररामचरित लिखा होगा तब निश्चय ही उसको अपेक्षित यश नहीं मिला वर्ना उसने निरवधि काल और विपुला पृथ्वी में कभी ऐसे किसी समानधर्मा के उत्पन्न होने की बात क्यों कही होती जो उसको समझ सकेगा और उसके प्रति न्याय कर सकेगा ! टालसटाय ने अपने जीवन के शेष पर्व में नीतिकथाएँ लिखनी शुरू कीं और उन्हीं को अपना श्रेष्ठतम अवदान समझा, लेकिन आज उसको उन नीतिकथाओं के लिए नहीं याद किया जाता, याद किया जाता है 'वॉर ऐंड पीस' के लिए, और सम्भव है आगे चलकर याद किया जाय 'आना करेनिना' और 'क्रॉयत्सर सोनाटा' के लिए । रवीन्द्रनाथ आज कवि, कथाकार, गीतकार, निबन्धकार, शिक्षाशास्त्री, चित्रकार, सभी रूपों में इतने वरेण्य हैं, कौन जानता है आगे चलकर उनके यश की सबसे अचल पीठिका उनके गीत सिद्ध हों और वे संसार के सबसे बड़े गीतकार माने जायँ । प्रेमचन्द को अपने जीवन काल में उपन्यास-सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया गया, आज ही इन पंक्तियों के लेखक के समान बहुत से लोग हैं जो मानते हैं कि उपन्यासों से कहीं बड़ी उनकी देन छोटी कहानी को है । 'ऐलिस इन वंडरलैंड' के लेखक लुइस कैरोल बहुत बड़े गणितज्ञ थे, और गणित पर उन्होंने ढेरों किताबें लिखीं, लेकिन आज उनकी गणित की पुस्तकें तो सब लुप्त हो गयीं और उन्हें याद किया जाता है उस एक छोटी-सी किताब के लिए जो उन्होंने यों ही अपने और किसी बच्चे के दिलबहलाव के लिए लिखी थी और शायद कभी नहीं सोचा था कि आगे चलकर वही उनकी अमरता का पासपोर्ट बनेगी ।

इन सब उदाहरणों से, और ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं, एक ही संकेत मिलता है— कि यश नाम की चीज़ बहुत ही अकल्पनीय और अनिश्चित होती है, उसको प्रयोजन बनाकर नहीं चला जा सकता और जो चलता है वह बालू पर भीत खड़ी करने जैसी भूल करता है ।

यश की लालसा अर्थ की लालसा के समान छोटी और लेखक को छोटा करनेवाली चीज तो नहीं, लेकिन उसको भी अपने सच्चे काम की एक आनुषंगिक उपलब्धि के रूप में देखना ही हमारी समझ में स्वस्थ दृष्टि होगी । अधिकांशतः होता भी यही है । लिखकर कवियशःप्रार्थी होना एक बात है और यश पाने के लिए लिखना, दूसरी — उसी तरह जैसे भगतसिंह या खुदीराम बोस के समान कोई बलिदानी जब देश की स्वाधीनता के संग्राम में अपने प्राणों की आहुति

देता है तब इसका यश तो उसको मिलता है लेकिन यह कहना कि उसने इस यश के लिए अपने प्राणों की आहुति दी, असत्य होगा और उस वीर के प्रति अन्याय होगा। दोनों ही स्थितियों में उनकी प्रेरणा का स्रोत उनके भीतर के किसी गंभीर आंतरिक प्रयोजन में होता है, किन्हीं महत् जीवन-मूल्यों या किसी बड़े जीवन-स्वप्न में।

ये शब्द कितने ही घिस गये हों, पुराने और बासी पड़ गये हों, गलत संदर्भों में प्रयुक्त होने से भ्रामक अर्थ देने लगे हों, लेकिन व्यक्ति के विवेक के निकट उनकी पहचान मिट गयी हो, ऐसी बात नहीं। कभी किसी बुरे समय में थोड़ी धूमिल अवश्य पड़ सकती है, पर तो भी रहती है। सच्चा रचनाकार उसके बिना जी ही नहीं सकता — और रचनाकार ही क्यों, जीवन के सरल दैनंदिन व्यापारों में लिपटा हुआ साधारण व्यक्ति भी नहीं जी सकता, अगर वह सच्चाई के साथ अपनी जिन्दगी जीना चाहता है। सच्चाई से बड़ा कोई मूल्य नहीं है, न जीवन में और न साहित्य में।

हम जानते हैं कि जैसे कुछ लोग अर्थोपार्जन के लिए ही लिखते हैं वैसे ही कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने यश का डंका पीटने का निश्चय करके ही मैदान में उतरते हैं, और फिर उसके लिए तरह-तरह के हथकंडे रचते हैं, हेरा-फेरी करते हैं, 'कलियुग में संघ में ही शक्ति होती है' के आर्ष वचन का पालन करते हुए जमकर गुटबंदी करते हैं और उन सब के चलते थोड़ा-बहुत यश या उसका आभास पा भी जाते हैं, लेकिन वह चीज कितनी स्थायी होती है या नहीं होती, इसका निर्णय फिर भी समय के हाथ में रहता है, और समय बड़ा निर्मम निर्णायक है, जो बिलकुल मुँहदेखी नहीं करता और जिसका जो प्राप्य है वही और उतना ही उसको देता है।

लेखन-कर्म उस अर्थ में पेशा भी नहीं है, और न होना चाहिए, जिस अर्थ में डाक्टरी या वकालत पेशे हैं। उनमें और लेखन-कर्म में जो तात्विक अंतर है उसको ठीक से न समझने के कारण ही बहुत बार लोग अपनी नादानी में ऐसी कल्पना भी कर लेते हैं कि लेखकीय प्रतिभा या क्षमता भी कोई ऐसी चीज है जो उत्तराधिकार के रूप में बाप से बेटे को सहज ही मिल जाती है। ऐसा नहीं है। होता तो लेखन का कर्म वंश-परंपरा में चलता दिखायी पड़ता। देख डालिए आज के और पुराने हिन्दी साहित्य को, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को, संस्कृत के विपुल साहित्य को, विश्व की किसी भाषा के साहित्य को, ऐसे कितने उदाहरण मिलते हैं जहाँ पिता और पुत्र दोनों लेखक या कवि हुए हैं? दो-तीन हजार वर्षों में शायद दस-पाँच नाम भी ऐसे न मिलें, तब भी लोग जहाँ-तहाँ

ऐसा कुछ कहते सुने जाते हैं। वह और कुछ नहीं उनका प्रमाद है, बौद्धिक आलस्य जो स्वयं तथ्यों की परीक्षा करके अपने निष्कर्षों पर पहुँचने का कष्ट नहीं उठाना चाहता।...तो फिर दूसरा सवाल पैदा होता है कि अगर ऐसी ही बात है, अगर लेखन-कर्म वंश-परंपरा में चलनेवाली, पिता द्वारा पुत्र को शिक्षित-दीक्षित करके हाथ के हाथ पकड़ा देनेवाली चीज़ नहीं है, तो क्यों नहीं है? इसीलिए कि यह कुछ दूसरे ढंग का काम है, उसकी प्रकृति कुछ और है, वह सृजन-कर्म है जो अपने लिए एक विशिष्ट मानसिक संरचना या सर्जनात्मक प्रतिभा या कम से कम उस प्रतिभा के बीज की माँग करता है; उसके बिना यहाँ गाड़ी चल ही नहीं सकती। इसीलिए तो यह चीज़ आये दिन देखने में आती है कि आटे-दाल या लोहे-लक्कड़ की दूकान पर बाप के बाद बेटा सहज ही आकर गद्दी सँभाल लेता है लेकिन लेखक की गद्दी उस आदमी के साथ चली जाती है।

इसलिए यह बात बार-बार कहने की है कि लेखन-कर्म पेशा नहीं है, उसको पेशा समझना या क़रार देना उसके महत्व को गिराना है। वह उसका धर्म नहीं, आपद्धर्म है, अधिक से अधिक।

हमारी यह बात आपको सुनने में जरा ज्यादा ही आदर्शवादी लगेगी और आप चौंकेंगे, उसी तरह जैसे मैं पहली बार चौंका था जब कार्ल मार्क्स के एक लेख में मुझे इसकी सनद मिली। (जी हाँ, कार्ल मार्क्स, जिसे किसी भी आदर्श या ऊँची भावना से शून्य एक ऐसा घनघोर भौतिकवादी समझा जाता है जिसने सब कुछ, सारे उच्च आदर्श आदि पैसे की तराज़ू पर तौलकर रख दिये!... लेकिन यहीं पर यह कह देना भी जरूरी है कि मार्क्स की सार्वजनिक 'इमेज' को खराब करने में जितना हाथ उसके विरोधी प्रचारकों का है उससे कुछ ज्यादा ही हाथ उसके संकुचित-दृष्टि, जड़ अनुयायियों का है।) प्रश्न पर उसका कहना है: 'लेखक जिये और लिखे इसके लिए स्वभावतः उसको जीविकोपार्जन करना होगा, लेकिन वह जीविकोपार्जन के लिए जिये और लिखे यह क़तई ठीक नहीं। लेखक किसी हालत में अपनी रचनाओं को साधन के रूप में नहीं देखता, वे ही साध्य होती हैं, अपने में, उनका साधन रूप उसके लिए और दूसरों के लिए इतना कम महत्व रखता है कि जरूरत पड़ने पर वह उनके जीवन के लिए अपने जीवन का बलिदान कर देता है...' आगे चलकर, अपने इसी लेख में, वह लेखक की 'आन्तरिक स्वाधीनता' की बात करता है और उसकी रक्षा वह इसी में देखता है कि लेखन उसके लिए व्यवसाय नहीं है। अगर व्यवसाय हो भी, इस अर्थ में कि अपने लेखन से उसको पैसा मिलता है और अंशतः या पूर्णतः उसी से उसकी जीविका चलती है, तो भी अपने लेखन के प्रति उसका दृष्टिकोण

व्यावसायिक नहीं होता, जो कि एक बड़ा अंतर है और जिसको ही सबसे अधिक रेखांकित करने की जरूरत है। जब तक उसका दृष्टिकोण व्यावसायिक नहीं है तब तक उसकी आंतरिक स्वाधीनता सुरक्षित है और वह अपने किसी आंतरिक प्रयोजन से, अपने भीतर की प्रेरणा से लिखता है, पैसा मिले या न मिले, लेकिन उसका दृष्टिकोण अगर व्यावसायिक हो तो उसी क्षण उसकी आंतरिक स्वाधीनता का नाश हो जाता है और वह बाहर की, बाजार की, प्रेरणा से लिखने लग जाता है, ऐसी चीजें जो बाजार में अच्छे दामों बिक सकें, वह नहीं जो अभिव्यक्ति पाने के लिए उसके भीतर तड़प रही हैं।

लेखक के स्तर पर यही 'साहित्य क्यों ?' का पहला और अंतिम उत्तर है— कि वह अपने भीतर की तड़प को (जो कुछ भी हो सकती है, जिसकी गणना संभव नहीं — कोई क्षण जो उसने जिया है, कोई बात जो वह कहना चाहता है, कोई सत्य जिसकी उसे प्रतीति हुई है, कोई अन्याय जिसका वह प्रतिकार करना चाहता है, कोई सौन्दर्य जिसकी एक झलक उसे मिली है) अभिव्यक्ति देना चाहता है और उसी अभिव्यक्ति देने की क्रिया में, उसके ही माध्यम से, अपनी उस तड़प को और भी गहरे उतरकर समझना चाहता है, पहचानना चाहता है। इस अर्थ में यह अभिव्यक्ति दूसरे के लिए और दूसरे के सम्मुख ही नहीं होती, सबसे पहले अपने लिए और अपने सम्मुख भी होती है। अभिव्यक्ति का यह सुख ही रचना का सुख है, जिसमें शायद कई चीजें मिली रहती हैं — किसी अनुभव या अनुभूति या विचार को तद्रूप शब्दों में ढाल पाने का सुख, शब्दों में ढल जाने पर उसी अनुभव या अनुभूति या विचार से एक नया परिचय प्राप्त करने का सुख, अपने भीतर टीसती हुई बात को दूसरे से कहकर जी हल्का कर लेने का सुख और दर्द की उसी अनुभूति को, उसी टीसते हुए सार्थक क्षण को फिर से एक नये रूप में जीने का सुख, जब कि (मीठे अनुभव को तो छोड़ ही दीजिए, वह तो सदैव मीठा ही रहता है) तीखा, कड़वा, जहर में बुझा अनुभव भी पहली बार शब्दों में ढलने की क्रिया में निथरकर अपना विष खो चुका रहता है और स्मृति उस पर अपना लेप चढ़ाकर उसे शुद्ध आनंद बना देती है, और फिर सबके बाद और शायद सबके ऊपर अपने से बाहर की दुनिया से, दूर-पास के उस दूसरे आदमी से जुड़ने का सुख जो मैं नहीं हूँ लेकिन जो मुझमें है और जिसमें मैं हूँ, क्योंकि सामाजिकता व्यक्ति का विकल्प नहीं उसकी मानव स्थिति का सहज और अनिवार्य धर्म है, जिसके चलते न तो दुःख अकेले काटे कटता है और न किसी चुटकुले का मजा ही अकेले-अकेले लिया जा सकता है।

अगर आत्म-अभिव्यक्ति ही साहित्य-सर्जना का सबसे बड़ा सुख है, जैसा कि

हमने देखा, तो अब सवाल पैदा होता है कि सामाजिकता के साथ उसके संबंध की क्या राशि बनती है, कान्तासम्मित उपदेश और शिवेतर की क्षति जैसी प्रतिज्ञाओं का वहाँ पर क्या और कैसा स्थान है ?

हमारे लिए तो साहित्यकार के ऐसे 'आत्म' की कल्पना करना ही कठिन है जिसमें दूसरे किसी का कोई योग न हो और जिसे दूसरे किसी से कोई संबंध न हो। लेकिन अगर किसी के पास ऐसा निपट ऐकान्तिक 'आत्म' हो, जो दूसरे किसी के अस्तित्व को या कम से कम उसकी सार्थकता को ही स्वीकार नहीं करता, तो यह प्रश्न उठता ही है कि ऐसे आत्म की अभिव्यक्ति फिर सबके सामने क्यों ? बात जो कही जाने के लिए मचल रही थी, कह दी गयी। भीतर जो एक बेचैनी थी, तिलमिलाहट थी, कागज पर उतर आयी। फिर इस बात की चिन्ता उस साहित्यकार को क्यों हो कि उसकी रचना प्रकाशित हो और किसी अच्छे पत्र में प्रकाशित हो जहाँ ज्यादा से ज्यादा लोग उसे पढ़ें और पढ़ें ही नहीं उस पर चर्चा करें ? इतना ही नहीं, उसके आगे फिर यह भी चिन्ता कि अगर चर्चा स्वतः नहीं हो रही है तो कैसे, किन हथकंडों से आयोजित की जाय ! इसका स्पष्ट अर्थ है कि जो व्यक्ति ऐसे ऐकान्तिक आत्म की बात कहता है उसे अपनी बात पर विश्वास नहीं है। वह अपने साथ और दूसरों के साथ छल कर रहा है। जिसकी कोई जरूरत न थी। इसमें लज्जा की कहीं कोई बात नहीं कि आदमी दूसरों को भी अपने सुख-दुख में शरीक करना चाहे, और न इसमें ही कोई लज्जा की बात है कि वह अपनी रचना रसज्ञों के आगे रखकर उनसे प्रशंसा पाना चाहे और उसके लिए यत्न करे, वैसे ही जैसे माँ-बाप अपने बच्चे के लिए, जब कि सच यह है कि साहित्य का सृजन बच्चे पैदा करने से कुछ ज्यादा ही कठिन और टेढ़ा काम है। बच्चा तो सभी बालिग़ मर्द-औरत सोते-जागते पैदा कर लेते हैं (खासकर हिन्दुस्तानी ! त्राहि-त्राहि मची है। सरकार करोड़ों रुपया हर साल सिर्फ बच्चों की पैदावार रोकने पर खर्च कर रही है !) जब कि साहित्य पैदा करना सबके बस का रोग नहीं। क्यों ? एक तो इसलिए कि साहित्य पैदा करना दो के मिलकर करने का नहीं, अकेले आदमी और अकेली औरत के करने का काम है। दूसरे इसलिए कि बच्चा तो असल में प्रकृति पैदा करती है, स्त्री-पुरुष तो केवल निमित्त या उपकरण होते हैं, जब कि साहित्य (यानी कि जिसे यह गरिमापूर्ण संज्ञा दी जा सके) आदमी की अपनी सृष्टि होता है, जिसके लिए वह प्रकृति को अपना उपकरण बनाता है। स्वाभाविक बात है कि अपनी इस सृष्टि से लिए, जो एक दूसरे स्तर पर और भी अधिक गहरे रूप में उसकी अपनी है, रचनाकार को मोह हो। इसमें कहीं कोई बुराई नहीं है। बुराई केवल

इस दुरंगेपन में है कि हम समाज से पाना तो सब कुछ चाहते हैं लेकिन उसे देना कुछ नहीं चाहते; केवल इस ढोंग में कि हम ऐन्द्रिक-जैविक स्तर पर समाज से लगे-लिपटे तो उतना ही हैं जितना कि दूसरा कोई, लेकिन दिखाना यह चाहते हैं कि हम दुनिया से परे हैं।

'कला कला के लिए' का नारा, जो संभवतः फ्रेंच विचारक विक्तर कूज़े के यहाँ से आया है (और कुछ अजब नहीं कि वॉल्टर पेटर ने, जिसके नाम से यह उक्ति प्रसिद्ध है, वहीं से इसको लिया हो) सौ बरस से ज्यादा पुराना नहीं है। वही नारा उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में इंग्लैंड में ऑस्कर वाइल्ड और फ्रांस में बोदेलेयर के रास्ते होते-होते इधर आकर, इन पिछले तीस-चालीस वर्षों में, उस जगह पर पहुँचा है जहाँ वह (साहित्यकार के सामाजिक दायित्व की स्थिति से भी आगे बढ़कर या, हमारी समझ में, पीछे हटकर) उसके सहज मानव संसर्ग या संपृक्ति को ही नकारने लगा है। कारण इसका जो भी हो — चाहे यह कि इस मशीन युग में आदमी भी मशीन का एक पुर्जा होकर रह जाता है, चाहे यह कि इसका अर्थतंत्र पूर्ण रूप से श्रम-विभाजन पर आधारित होता है जिसके चलते सबके कार्यक्षेत्र अलग हो जाते हैं और समाज सबको समेटकर चलनेवाली एक इकाई के रूप में छिन्न-भिन्न हो जाता है, और चाहे यह कि इस पूँजीवादी समाज में आदमी और आदमी के बीच के संबंध समाप्त हो जाते हैं और उनका स्थान केवल अर्थ के संबंध ले लेते हैं — यह स्थिति बहुत काम्य नहीं कही जा सकती कि साहित्यकार अपने मानव परिवेश को ही अस्वीकार करने लगे। इसी साँचे या ढाँचे के भीतर खड़े होकर देखने पर स्थिति निश्चय ही बहुत भयावह दिखायी पड़ती है, कि जैसे किसी अंधी गली या अंधे कुएँ में आ फँसे हों जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नजर नहीं आता। लेकिन तभी साहित्यकार से यह अपेक्षा होती है कि वह अपने गहरे चिन्तन और प्रातिभ कल्पना के बल पर उस साँचे या ढाँचे से बाहर निकलकर मूल समस्या पर अपनी दृष्टि जमाये हुए किसी दूसरे साँचे या ढाँचे की बात कर सकेगा और अगर वह दूसरा साँचा या ढाँचा किन्हीं दूसरे कारणों से संतोषजनक नहीं लगता तो वह किसी तीसरे साँचे या ढाँचे की बात सुझा सकेगा। उसके ऊपर कोई प्रतिबंध नहीं है, अगर है तो वह उसको अमान्य करता है क्योंकि वह सदा का विद्रोही है, अपने विचारों को बाँधनेवाला कोई चौखटा उसने कभी स्वीकार नहीं किया और न किसी धार्मिक-राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक सत्ता को अपने विचारों की दौड़ के लिए कोई सीमा-रेखा खींचने दी। क्योंकि यही उसका असल काम है, उसका काँटों का ताज जो उसे गौरव देता है। मानव स्थिति और मानव नियति के प्रश्नों के साथ

निर्भय होकर मरते दम तक जूझते रहने की स्वाधीनता ही उसकी असल स्वाधीनता है, जो स्वयं उसके लिए और उसके मानव समाज के लिए मूल्यवान है। स्थापित सत्ता या एस्टैब्लिशमेंट का प्रकोप भी उसी साहित्यकार को सहना पड़ता है; सब तरह की बाधाएँ, सब तरह के अवरोध उसी के रास्ते में बिछाये जाते हैं, क्योंकि मानव स्थिति और मानव नियति के प्रश्नों को लेकर सत्य की अपनी खोज में, अपने नये समाधानों और अपने नये मूल्यों की खोज में बार-बार उसकी टक्कर इसी एस्टैब्लिशमेंट से होती है, जो अपने स्थापित स्वार्थों के हित में रूढ़ियों का पोषक और नयी उद्भावनाओं का शत्रु होता है। बाकी जो साहित्यकार इन भयंकर प्रश्नों से उपराम होकर, अपने परिवेश से कटकर, अपने अहं के भीतर संपुटित हो गया और अपने एक छोटे से कोने में बैठकर आइना हाथ में लेकर अपने अहं की तुष्टि के लिए तरह-तरह की टेढ़ी-मेढ़ी नाटकीय मुद्राएँ बनाने को ही अपनी लेखकीय स्वाधीनता का चरमोत्कर्ष समझ बैठा, उससे किसी को क्या डर, बनाये जैसे भी जितने भी चेहरे बनाना चाहता हो, आखिर अपना ही चेहरा तो बना (या बिगाड़) रहा है, स्थापित स्वार्थों का तो कहीं कुछ नहीं बिगड़ता ! इसलिए उधर से पूरी छूट है, ऐसी स्वाधीनता के लिए, बल्कि छूट ही नहीं कुछ प्रोत्साहन भी क्योंकि ऐसी चेष्टाओं से थोड़ा दिग्विभ्रम तो फैलता ही है और उनके शिकंजे की पकड़ उसी अनुपात में और भी मजबूत हो जाती है। स्वयं उन साहित्यकारों को पता हो या न हो, सत्ताधारी उन स्थापित स्वार्थों को खूब पता है कि उन साहित्यकारों ने अपने सामाजिक संपर्क को काटकर अपने को कितना छोटा और दुर्बल और विपन्न कर लिया है, कि अब उनकी स्थिति समाज के निर्माता की नहीं विदूषक की होकर रह गयी है। इसीलिए उनके प्रति एस्टैब्लिशमेंट का भाव उपेक्षा का है — खेलने दो, जब तक खेलते हैं, जिस दिन जरूरत होगी, हम उनको खरीद लेंगे।...समाज-मुक्त, निर्बन्ध-निस्संग स्वाधीनता की कैसी अनोखी निष्पत्ति !

समाज और साहित्यकार के संबंध की राशि को समझने में थोड़ी कठिनाई या असुविधा इस कारण से भी होती है कि 'समाज' शब्द का प्रयोग साधारण मानव समुदाय या मानव समाज के लिए भी होता है और उन सबका चौधरी बनकर बोलनेवाले एस्टैब्लिशमेंट या प्रतिष्ठान के लिए भी होता है और एक को दूसरे से अलग करके देख पाना सब समय बहुत आसान नहीं होता, इसलिए और भी कि साधारण व्यक्तियों का जो समाज है, जिसके सुख-दुख से जुड़ने की बात हम कहना चाहते हैं, वह एक बिखरी हुई, दूर-दूर तक फैली हुई, अनेक-स्तरीय, गडमड, आकारहीन और शायद इसी नाते इतनी पार्थिव और

सदेह होते हुए भी कुछ अमूर्त सी इकाई है जिसे झट से पकड़कर यह नहीं कहा जा सकता कि यह 'समाज' है, हमारा मतलब इस चीज से है। क्योंकि 'समाज' के नाम पर चलनेवाला ढेरों कूड़ा-कर्कट, मुर्दा रूढ़ियों का जंगल भी तो रहता है जिनका समर्थन कोई सच्चा साहित्यकार नहीं कर सकता, जिनके रूप में ही वे स्थापित स्वार्थ जीते हैं, जिनके पीछे उन्हीं स्थापित स्वार्थों का, उसी समाज-सत्ता का बल रहता है। यह कठिनाई इसलिए और भी बढ़ जाती है कि जो साधारण मानव समाज है वह अधिकांशतः अशक्त और निःस्वर है; समाज के नाम पर बोलनेवाला, समाज का झंडा दिगन्त में फहरानेवाला वही समाज का एस्टैब्लिशमेंट है, जिसके हाथ में जैसे और सब साधन हैं वैसे ही प्रचार के भी सब साधन हैं। ऐसी स्थिति में बहुत बार साहित्यकार को समाज के नाम से ही चिढ़ हो जाती है। इसमें आश्चर्य की ऐसी कोई बात नहीं। हमारी इस चर्चा में ऑस्कर वाइल्ड का नाम ऊपर आ चुका है। हमारी मान्यता है कि उसने जिस प्रकार, जिन शब्दों में, समाज का तिरस्कार किया है, वह कुछ ऐसी ही चीज है। वह समाज के नाम पर बोलनेवाले उसके चौधरियों और अलमबरदारों का मखौल तो उड़ाता है पर मानव समाज के स्वास्थ्य या उसकी नियति के प्रति उदासीन नहीं है, बल्कि यों कहें कि समाज को अधिक स्वस्थ देखना चाहता है इसीलिए तलैया के बँधे हुए सड़ते हुए पानी जैसे विक्टोरियन समाज और उसकी नैतिकता का ऐसे तिलमिलाते हुए और तिलमिला देनेवाले शब्दों में मख़ौल उड़ाना जरूरी समझता है। यह काम वह अपने नाटकों में करता है — जिन्हें उसने 'ट्रिवियल कॉमेडीज फ़ॉर सीरियस पीपुल' अर्थात् 'गंभीर लोगों के लिए हल्के-फुल्के सुखान्त नाटक' की संज्ञा दी है। जीवन के अनेक मार्मिक प्रश्नों के प्रति उसकी गंभीर दृष्टि देखनी हो तो वह उसकी कविता 'बैलड ऑफ़ रेडिंग जेल', वैचारिक प्रबंध 'डी प्रोफ़ंडिस' और उपन्यास 'पिक्चर ऑफ़ डोरियन ग्रे' में देखी जा सकती है। उसका स्वर जो भी हो, जितने जोर से भी वह अपने को शुद्ध कलावादी कहता हो, उसका लेखन समाज के एक ऐसे आलोचक का लेखन है जो अपने समाज को अधिक स्वस्थ और ढोंग से मुक्त देखना चाहता है।

कल्पना कीजिए कि दुनिया में अगर साहित्य न होता तो मनुष्य का जीवन कितना दरिद्र होता। निरक्षरों की बात छोड़ दीजिए, उनके लिए साहित्य का होना न होना बराबर है, लेकिन जो पढ़े-लिखे हैं उनके लिए तो यह कल्पना ही भयंकर है। एक दिन भी अगर पढ़ने का कुछ मसाला हाथ में न हो तो समय जैसे काटे नहीं कटता। मगर इतनी ही बात नहीं है, यह तो साहित्य की सबसे साधा-

रण और प्राथमिक सार्थकता है ; उसकी वास्तविक सार्थकता इसमें है कि वह अनजाने ही आदमी की वृत्तियों का संस्कार करता है, और जो साहित्य जितना ही श्रेष्ठ होता है उतने ही ज्यादा अनजाने ढंग से अपना काम करता है। शायद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद, रोमियो-जूलिएट, राधा-कृष्ण, सोनी-महीवाल और साहित्य के व लोककथाओं-लोकगीतों के दूसरे असंख्य प्रेमी-प्रेमिकाओं की कथाओं ने, स्त्री-पुरुष के प्रेम को लेकर लिखी गयी अनगिनत कहानियों, उपन्यासों, कविताओं और गीतों ने हमारी प्रेम-भावना को बहुत दूर तक समृद्ध और परिष्कृत किया है, इतना कि हम कह सकते हैं कि उन्होंने हमको और भी गहराई से और शिद्दत से प्यार करना सिखलाया है। उसी तरह अपनी धरती और आकाश, अपने चाँद-तारों, अपने पेड़-पौदों, फूल-पत्तियों, नदी-पहाड़ों, और अपने ऋतुचक्र को भी और सघन रूप में प्यार करना आदमी अपने साहित्य से ही सीखता है। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य का बोध भी, जिससे उसका विवेक बनता है, उसे अपने शास्त्रों और पुराणों और अन्य साहित्यिक रचनाओं से ही मिलता है।

समस्त प्राणि-जगत् में मनुष्य ही वह अकेला प्राणी है जिसके पास उन्नत मेधा है, और वह सृजनशील मानसिकता है जो साहित्य में और दूसरी ललित कलाओं में अपने को अभिव्यक्त करती है। न्यूनतम प्रयोजन की अपनी एक भाषा सभी जानवरों के पास है लेकिन ऐसे विराट् सामर्थ्य की भाषा जिससे साहित्य रचा जा सके किसी जानवर के पास नहीं है। इस अर्थ में यह कहना तनिक भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि आदमी को दूसरे सब जानवरों से अलग करनेवाली, आदमी को आदमी बनानेवाली चीज उसकी उन्नत, सृजनशील मानसिकता और उसकी भाषा का प्रतिफल यह साहित्य ही है, क्योंकि दूसरी सब बातों में सभी प्राणी समान हैं।

यह सच है कि आदमी ने अपने इस सामर्थ्य का और विज्ञान के अपने विपुल सामर्थ्य का दुरुपयोग भी बहुत किया है। जभी तो आज यह पृथ्वी एक बार फिर एक महाप्रलय के कगार पर खड़ी है जब कि एक पागल आदमी एक बटन दबा-कर ऐसा एक सर्वसंहारक परमाणु-युद्ध शुरू कर सकता है जो कुछ घंटों में ही इस पृथ्वी का संपूर्ण विध्वंस कर सकता है। लेकिन उसके साथ-साथ यह भी सच है कि आदमी ने अपने महत् साहित्य की सृष्टि द्वारा जीवन को नये आयाम दिये हैं, मानव संवेदनाओं को अछूती गहराइयाँ दी हैं, आदमी के भीतर और बाहर के अंतरिक्ष में अपनी जिज्ञासा के रथ दौड़ाये हैं और जो सत्य हाथ लगा उसको

साहसपूर्वक देखने-समझने का यत्न किया है, हर अन्याय का प्रतिकार किया है, मानव जाति को सुन्दर की एक संज्ञा दी है और अपनी सब वर्तमान विभीषिकाओं से जूझते हुए एक सुन्दर भविष्य के सपने देखे हैं। ये सभी महत् कार्य हैं जो उसके द्वारा हुए हैं। यह ठीक है कि अपनी जीवन-यात्रा में उसने तरह-तरह के उतार-चढ़ाव देखे हैं, आज भी देख रहा है और आगे भी देखेगा, पर उन सबके बीच भी साहित्य ने जीवन-मूल्यों की अपनी बात छोड़ी नहीं, निरंतर नये-नये रूपों में उसकी उद्भावना की, हमारे निकट यही साहित्य की अंतिम सार्थकता और उसका अंतिम प्रयोजन है।

कहानीकार और उसका परिवेश

बड़ी खुशी की बात है कि अपनी ही राल से बुने गये मकड़ी के जाले जैसी कहानियों का चलन इधर आकर अगर समाप्त नहीं तो बहुत कम हो गया है। उन कहानियों की कथावस्तु, यहाँ तक कि उनकी बुनावट भी, प्राय: एक जैसी होती थी, इतनी एक जैसी कि एक हस्ताक्षर को दूसरे से अलग करके पहचानना भी बहुत बार कठिन हो जाता था। ऊब और कुंठा की उन एकरस कहानियों को कुछ लोगों ने कई वर्षों तक कथाशिल्प की नवीनतम और अभूतपूर्व उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करने की आप्राण चेष्टा की, लेकिन वह माल चला नहीं और आखिरकार दूकान बढ़ानी पड़ी। इसलिए नहीं कि ऊब और कुंठा जीवन की, विशेषतया समसामयिक भारतीय जीवन की, सचाइयाँ नहीं हैं; इसलिए कि निराकार ब्रह्म के रूप में उनका स्तवन किसी के भीतर कोई संवेदना या स्पंदन नहीं जगाता। यह तो जैसे है ही कि ऊब और कुंठा जीवन की अकेली सचाइयाँ नहीं हैं, जीवन में और भी बहुत कुछ है और साहित्यकार से अपेक्षा की जाती है कि वह जीवन पर सम्यक् दृष्टि डाले, लेकिन जहाँ तक उस ऊब और कुंठा की बात है उसको भी संवेद्य बनाकर ही कहानीकार अपने पाठक तक पहुँचा सकता है, क्योंकि उसी तरह कहना सार्थक ढंग से कहना है। और उसके लिए जरूरी है कि उस ऊब और कुंठा को (यानी कि अगर हमें उतने से ही प्रयोजन हो तो भी) आधुनिक परिवेश के साथ जोड़कर देखा जाय, समझा जाय, पहचाना जाय, नाम दिया जाय, उनके अनेकानेक स्तरों को सावधानी से खोलकर परखा जाय और जहाँ तक अपनी दृष्टि जाती हो उन्हें समग्र परिवेश के बीच एक संगति देने का यत्न किया जाय। यह एक क्षण के लिए भी भूलने की चीज नहीं है कि लेखक और उसके पाठक के बीच समान वस्तु यह मानव परिवेश ही है जो अपने साथ संवेदनाओं का एक पूरा संसार लिये रहता है, और इन्हीं संवेदनाओं के सिक्कों से साहित्य का कुल व्यापार होता है। इसलिए परिवेश से जुड़ना, गंभीर ढंग से जुड़ना, सप्राण और सार्थक ढंग से जुड़ना स्वयं अपनी सजीवता के लिए आवश्यक है, मनुष्य के नाते भी और साहित्यकार के नाते भी। कुछ साहित्यकारों को इस चीज में, जिसे वे भीड़ में

खड़े होना कहते हैं, अपने साहित्यिक आभिजात्य के नष्ट हो जाने का भय दिखायी पड़ता है। लेकिन वे यह मोटी सी बात भूल जाते हैं कि भीड़ में सिर्फ बच्चों के खो जाने का डर रहता है, वयस्क लोग तो सभी रोज ही जैसे-तैसे अपने घर पहुँच जाते हैं, फिर चाहे बस में लटककर पहुँचें और चाहे लोकल के पावदान पर खड़े होकर, खोता कोई नहीं। भीड़ में भी आदमी के हाथ-पाँव, उसकी आँखें, उसका सर, सब अपनी जगह पर सलामत रहते हैं, और हर भीड़ कुंभ मेले की भीड़ नहीं होती, और अगर कोई कुंभ मेले में भी फँस जाय तो वक्त रहते जरा सा किनारे हो जा सकता है। परिवेश से जुड़ने का कोई बँधा-टका विधान नहीं है, कि इसी तरह परिवेश से जुड़ा जा सकता है, दूसरी तरह नहीं। उसकी विधि तो खुद अपने खोजने की चीज है, अपने रहन-सहन, अपने स्वभाव, अपने झुकाव के अनुसार। और जाहिर है कि अलग-अलग लोगों के तरीके भी अलग-अलग होंगे; हाँ, लक्ष्य एक ही होगा कि अपने परिवेश से चेतना के स्तर पर योग बना रहे और अधिकाधिक घनिष्ठ होता जाये, जो कि फिर लेखन में निश्चय ही अनेक रूपों में बोलेगा — सबसे पहले तो इसी रूप में कि बात जो कही जायेगी वह ओढ़ी हुई या कहीं से उधार ली हुई न होगी, उस पर लेखक के अपने प्रत्यक्ष अनुभव और चिन्तन-मनन का स्वाक्षर होगा, जो कि बिलकुल दूसरी ही बात है। (और सच तो यह है कि बात परिवेश से जुड़ने की उतनी नहीं है जितनी कि अपने को उस परिवेश से न काटने की है क्योंकि जुड़ा हुआ तो लेखक भी पहले से ही है, वैसे ही जैसे अन्य सभी व्यक्ति। गड़बड़ी तो तब पैदा होती है जब यह लेखक नाम का प्राणी अपने उस सहज संपर्क को और भी अधिक स्वच्छ और गहरा और घनीभूत बनाने के बदले अपनी संकुचित साहित्यिक दृष्टि के कारण अपने खोल के भीतर सिमटने लगता है और कुछ बँधे-टके विषयों, मान्यताओं, अनुभव और अनुभूतियों को छोड़कर विराट् जीवन के शेष सभी स्पंदनों और संचरणों के लिए अपनी सर्जनात्मक संवेदना के द्वार बंद कर लेता है—व्यक्ति के रूप में चाहे छूते भी हों, कम से कम लेखक के रूप में वे उसको नहीं छूते।)

एक बात और जो इस प्रसंग में स्पष्ट कर लेने की है, वह यह कि लेखक के अपने परिवेश से जुड़ने का मतलब सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में जुड़ना नहीं है, अर्थात् उसका मतलब यह नहीं है कि वह छात्रों के बीच छात्रों का, मजदूरों के बीच मजदूरों का, किसानों के बीच किसानों का, दफ्तर के बाबुओं-चपरासियों के बीच उनका झंडा लेकर जुलूस के साथ नारा लगाता घूमे; उसका मतलब लेखक के रूप में उनसे अधिकाधिक गहरे और संश्लिष्ट रूप में जुड़ा

रहना है जिसमें पता रहे कि समाज के ये विभिन्न अंग क्योंकर अपनी जिंदगी जीते हैं, क्या खाते हैं, कैसे रहते हैं, क्या सोचते हैं, आपस में क्या बातें करते हैं, ज्वलंत समस्याएँ उनकी क्या हैं। यही ठोस ढंग से अपने परिवेश के साथ जुड़ना है, अपने दिशा-काल को पहचानना है और गहरे पैठकर देखिए तो यही श्रेष्ठ लेखन का असल रक्त-मांस है। यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि इसमें ऐसी कौन सी बात है, यह सब तो हमें पता ही है। ऐसी बात कहना कोई नयी बात नहीं। जो जितना ही कम जानता है वह अपने को उतना ही अधिक ज्ञानी समझता है, और जो सचमुच ज्ञानी है वही जानता है कि वह कितना कम जानता है। हाँ, सामान्य रूप में, एक धुँधले-धुँधले ढंग से हम सभी जानते हैं कि समाज कहाँ पर खड़ा है और उसके ये विभिन्न अंग क्या सोचते हैं, उनकी ज्वलंत समस्याएँ क्या हैं। उतना ज्ञान तो हमें अपने दैनिक समाचारपत्र से ही मिल जाता है। लेकिन उतना जानना काफी नहीं है, साहित्य का काम उससे नहीं चल सकता। साहित्य की सृष्टि सामान्य ज्ञान के भीतर से नहीं, विशिष्ट ज्ञान के भीतर से होती है, धुँधले-धुँधले ढंग से जानने के भीतर से नहीं, स्पष्ट और गहरे और प्रामाणिक रूप से जानने के भीतर से होती है।

उस रूप में हम सभी कितना कम जानते हैं, अपने देश को, अपने काल को। देश ठहरा हुआ नहीं है, समय भी ठहरा हुआ नहीं है। कभी नहीं रहता, आजकल तो और भी नहीं। सारी दुनिया में एक खलबली है, एक बेचैनी है, पुरानी दुनिया की एक चरमराहट है, नयी दुनिया की एक तलाश है जिसमें बहुत सा भटकाव भी है, और आग है और खून है। अलग-अलग देशों में इसके कुछ अलग-अलग कारण हैं लेकिन एक मौलिक कारण शायद सभी जगह एक है — समाज में न्याय नहीं है और संतुलन सब बिगड़ गया है। और जहाँ समाज का संतुलन बिगड़ा हुआ हो वहाँ व्यक्ति का संतुलन भी बिगड़े बिना नहीं रह सकता। अपने देश भारत में यह सामाजिक न्याय सबसे कम है, इसलिए यहाँ का संतुलन सबसे ही अधिक बिगड़ा हुआ है, समाज सबसे ही अधिक अस्थिर है और शायद आग और खून भी सबसे ही बढ़चढ़कर है। जिससे अब यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ हो गयी है कि अब यह सामाजिक अन्याय जनसाधारण के लिए असह्य हो गया है और अब यह पुराना ढचरा किसी तरह नहीं चल सकता। अब या तो यह अन्याय की व्यवस्था वैधानिक तरीकों से न्याय की दिशा में बदलेगी या फिर रक्त-क्रांति होगी। इस समय कमी जो है वह संगठित नेतृत्व की है, इसकी नहीं कि जनसाधारण लड़ने-मरने के लिए तैयार नहीं हैं। लोगों को वैधानिक तरीकों से परिवर्तन की कुछ

आशा इंदिरा गांधी से बँधी है लेकिन, हमें ऐसी बात कहने के लिए माफ़ किया जाय, हमको इसकी कोई आशा नहीं दिखायी देती और न ऐसे कोई शुभ लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं जिनके सहारे यह आशा बाँधी जाय। इससे एक ही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि देश एक भयंकर विस्फोट की ओर तेजी से बढ़ रहा है। नागरिक के रूप में हम उसमें कहाँ होंगे, यह तो प्रश्न है ही जिसका हमें अपने तईं उत्तर देना होगा, पर वह प्रस्तुत टिप्पणी की सीमा से बाहर की बात है। हमें तो संप्रति इससे प्रयोजन है कि लेखक के रूप में, कहानीकार के रूप में हम उसमें कहाँ होंगे, और कहाँ हैं — क्योंकि वह विस्फोट होने को जब भी हो, जन-मानस में पक तो इस समय रहा है। उसकी कहानी हम नहीं कहेंगे तो कौन कहेगा ? लेकिन हम उसकी कहानी कह सकें उसके पहले जरूरी है कि हम उस गत्यात्मक स्थिति के भीतर गहरे पैठकर जन-विस्फोट की इस उलझी हुई प्रक्रिया को अच्छी तरह समझें। पर यह काम रोज-रोज कॉफ़ी हाउस या टी-हाउस में अपनी टोली के उन्हीं-उन्हीं लेखक बंधुओं के साथ बैठकर इसकी टोपी उसके सर और उसकी टोपी इसके सर करते रहने से नहीं होगा। बैठकबाजी बहुत अच्छी चीज है,आदमी उससे भी बहुत कुछ सीख सकता है, लेकिन एक लेखक दूसरे लेखक के साथ रोज-रोज बैठकर साहित्यिक दलबंदी के अलावा और क्या सीख सकता है, यह सोचने की बात है। हमारी समझ में इससे कहीं अधिक उपयोगी एक कहानीकार के लिए यह होगा कि वह गैर-साहित्यिक साधारणजनों के बीच अधिक उठे-बैठे, क्योंकि उसको अपनी कहानियाँ और अपनी कहानियों के पात्र उन्हीं के बीच मिलेंगे।

यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि आप तो कहानीकार को रिपोर्टर बन जाने की सलाह दे रहे हैं। तो पहली बात तो यह है कि रिपोर्टर कोई ऐसा हीन प्राणी नहीं है कि हर कहानीकार नाक ऊँची करके उससे बात करे। रिपोर्टर अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, उसी तरह जैसे कहानीकार अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। और अगर कोई लगन से काम करनेवाला अच्छा रिपोर्टर है और उसके भीतर थोड़ी भी साहित्यिक प्रतिभा है तो वह रिपोर्टिंग को भी एक सर्जनात्मक विधा बना सकता है, और हेमिंग्वे और स्टाइनबेक और एहरेनबुर्ग जैसे बड़े कथाकारों ने भी युद्ध के रिपोर्टर का काम किया है और युद्ध की रिपोर्टिंग को नये शिखरों पर पहुँचाया है। हम आज के अपने इस अत्यंत महत्वपूर्ण समय की वैसी रिपोर्टिंग करें तो अपने आप में वह एक बड़ी उपलब्धि होगी और साहित्य की मान्यता भी उसे मिलकर रहेगी, वैसे ही जैसे सरकारी टकसाल से नये सिक्के जारी किये जाते हैं। लेकिन दूसरी बात और

उससे भी बड़ी बात यह है कि अगर हमारे अंदर कहानीकार की, साहित्यकार की प्रतिभा है तो इसका मतलब यह है कि हमारे अंदर वह रसायन मौजूद है जो जीवन के तथ्य को साहित्य का सत्य बना सकता है। यानी अपने इस जीवन-अनुभव से, अपने परिवेश से गहरे रूप में जुड़ने से हमें वह सर्जनात्मक कच्चा माल मिलेगा जिसे हम अपनी कीमियागरी से श्रेष्ठ साहित्य का रूप दे सकते हैं, जितनी भी हमारी प्रतिभा है, सामर्थ्य है। पहले वह अन्न तो अपने भीतर डालिए जो कालांतर में आपकी सर्जनात्मक क्षमता बनता है, आपका विवेक बनता है, आपकी संज्ञा बनता है।

जगत् की सृष्टि के संबंध में उपनिषद्कार कहता है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् (मुण्डक० १।७)

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी किसी अन्य उपकरण की अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने शरीर से जाले को बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षरब्रह्म से यह विश्व प्रकट होता है।

लेकिन यह भूलने से कैसे काम चलेगा कि हम अक्षरब्रह्म नहीं हैं, हम तो स्थूल प्राणी हैं जो अन्न के बिना नहीं जी सकते, मनुष्य के रूप में भी नहीं, साहित्यकार के रूप में भी नहीं। निश्चय ही साहित्य-स्रष्टा का कर्म एक स्तर पर मकड़ी के जाला बुनने जैसे होता है, लेकिन उसके लिए पहले अपने भीतर अन्न डालना जरूरी है। साहित्यकार का अपने बाहर की दुनिया से संश्लिष्ट रूप में जुड़ना ही वह अन्न है। कम से कम, सबसे आवश्यक अन्न।

कहानीकार के सामाजिक परिवेश पर बल देने का आशय यह नहीं है कि हम व्यक्ति की स्थिति को गौण मानते हैं या कि उसको अपदस्थ करके केवल 'सामाजिक' कहानी को मान्यता देना चाहते हैं। हमारा आशय इतना ही है कि हम अपने सर्जनात्मक स्तर पर भी अपने परिवेश को अपने ढंग से अपने भीतर ग्रहण करना सीखें; कि हम कहानीकार के रूप में अपने भीतर सिमटे-सिमटे और अपने कोष में बंद-बंद अंधे और बहरे के समान समाज में न डोलें; कि हम अपने भीतर के सहज सामाजिक प्राणी और कहानीकार को दो अलग-अलग खानों में बाँटकर उनके बीच ऐसी लक्ष्मण-रेखाएँ न खींच दें कि जिन्हें पार करना बिपज्जनक है; कि इस प्रकार का विभाजन सबसे पहले अपनी सृजन-

प्रक्रिया के लिए ही घातक है; कि अखंड और अविकल सच्चाई श्रेष्ठ साहित्य का सबसे बड़ा गुण है, उसका प्राण, जिसके होने से सब कुछ है और जिसके न होने से सब कुछ होकर भी कुछ नहीं होता, जिससे शिल्प की कमी भी एक सीमा तक भर जाती है और सृष्टि सार्थक हो जाती है और जिसके न होने से रचना वैसी की वैसी निष्प्राण रही आती है और शिल्प केवल रचना-कौशल या आडंबर या ऊपरी अलंकरण बनकर रह जाता है। निष्कर्ष : वही लिखो जो तुमने जिया है, और जो नया लिखना है उसको पहले जियो। अनुभव की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ की बात अपने आप में गलत नहीं है — झगड़ा तब पैदा होता है जब यह विराट् विश्व, जो हमको घेरे हुए है और जिसके साथ हम अपने अस्तित्व के असंख्य तारों से अत्यंत घनिष्ठ रूप में जुड़े हुए हैं, दो अंगुल जगह में आकर सीमित हो जाता है और उसके व्याख्याता हमसे कहते हैं कि वही सब है। उस दो अंगुल जगह के महत्त्व से भी हमें इन्कार नहीं — कौन उस भूख से अपरिचित है, और फिर सृष्टि का क्रम उसी से चलता है — लेकिन तब भी वही तो कुल सृष्टि नहीं है ? फिर क्यों सब धरती और आकाश को तिलांजलि देकर दृष्टि सब समय उसी दो अंगुल जगह पर निबद्ध रखी जाय ? यहाँ पर हम यह भी माने लेते हैं कि जब अपने शरीर का कोई अंग दुखता है तो सारी दुनिया सिमटकर वहीं आ जाती है या यों कहें कि बाकी दुनिया वक्ती तौर पर मिट जाती है और चेतना सब समय वहीं मँडराया करती है, उँगली की पोर पर बैठी हुई उसी बिसहरी पर, उसी ठोकर खाये हुए अँगूठे पर, उसी दुखते हुए दाँत या टीसते हुए कान पर। एक तरफ एक पिछड़ा हुआ मध्ययुगीन समाज है जो लड़के-लड़कियों को सहज भाव से मिलने नहीं देता, जो उन्हें जवानी की देहलीज पर कदम रखते ही अलग-अलग कोठरियों में बंद कर देता है जहाँ उन्हें एक दूसरे की बू-बास भी न मिल सके, आजादी से मिलना-जुलना, साथ उठना-बैठना, घूमना-फिरना तो दूर की बात है। हर झरोखे में, खिड़की और रोशनदान में, दरवाजे की हर सन्धि में, दरार में, खूसट समाज की पथराई हुई, संदेहशील, अश्लील आँखें जड़ी हैं—और दूसरी तरफ गंदा से गंदा साहित्य है, गंदी से गंदी फिल्में हैं जो अपनी कामोत्तेजक व्यंजना में पश्चिम की सपाट नंगी फ़िल्मों से दो बाँस आगे ठहरती हैं अपने नंगेपन में। और दोनों स्थितियों के बीच फँसा हुआ है एक ऐसा युवक जो अगर विद्यार्थी जीवन समाप्त कर चुका है तो जीविका की तलाश में भटक रहा है, एक ऐसे बीहड़ रास्ते पर जहाँ कोई उसका साथी या मददगार नहीं है और न जहाँ किसी की योग्यता ही किसी काम आती है, और अगर विद्यार्थी है तो उसे सबसे कम प्रयोजन

अपने विद्योपार्जन से है क्योंकि शिक्षा का आज जो रंग-ढंग है, न कोई पढ़ता है और न कोई पढ़ाता है, और न जिस शिक्षा का कोई मतलब है क्योंकि वह न तो अर्थकरी है और न कोई मूल्यबोध या आत्मिक संस्कार देती है, और इस नाते समय काटने का मात्र एक बहाना है ताकि जितनी देर तक संभव हो और पिता या संरक्षक का सामर्थ्य हो वह जीविका के उस भयानक प्रश्न का सामना करने से बच सके — और एक ऐसी युवती जिसका न तो जल्दी ब्याह हो पाता है और न जो बहुधा स्वतंत्र रूप से अपने लिए कोई नौकरी या काम ही खोज सकती है, ब्याह इसलिए नहीं कि वह उसी चिराचरित ढंग से होना है, जात-पाँत में, लगाकर, माँ-बाप, चाचा-ताऊ के खोजे हुए किसी लड़के से, और उसमें दान-दहेज सभी कुछ होता है, बाप तो बाप आजकल के तो लड़के भी भाड़ जैसा लंबा-चौड़ा मुँह खोलने लगे हैं, और शादी के बाजार में आइ० ए० एस० और इंजीनियर और डाक्टर और लेक्चरर और किसी दफ्तर के बाबू और किसी संपन्न व्यापारी के बेटे के दाम भी उसी तरह तय हैं जिस तरह कि कोल्ड स्टोरेज में रखे हुए गोश्त-मछली की बड़ी दुकान में तख्तियाँ टँगी रहती हैं — हैम, इतने रुपये किलो; बेकन, इतने रुपये किलो; मुर्ग इतने रुपये किलो; पॉम्फ्रे, इतने रुपये किलो...यानी कि बेटी की शादी पैसे का खेल है, और तभी खेला जा सकता है जब कि हाथ में इतने पैसे हों। और उधर नौकरी वह नहीं कर सकती, क्योंकि एक तो दुनिया नाम धरेगी (हमारा हिन्दी देश शायद इस मामले में बाकी सभी जगहों से ज्यादा पिछड़ा हुआ है) दूसरे उसमें बड़ा जोखिम है!

जाहिर है कि सामाजिक स्थितियों का यह चक्र बहुत स्वास्थ्यकर नहीं है। आये दिन हत्याओं, आत्महत्याओं और बलात्कारों के समाचार मिलते रहते हैं। लेकिन ये तो केवल समाचार हैं, घटनाओं के, निरी घटनाओं के, इनको खोलने-वाली कुंजी कहाँ है? स्पष्ट है कि उनकी कुंजी उनके संदर्भ में ही मिल सकती है। वही संदर्भ परिवेश है। उस परिवेश के बोध की, उन घटनाओं के भीतर पैठनेवाली अन्तर्दृष्टि की, समग्र परिप्रेक्ष्य अपनी सब प्रेत-छायाओं के साथ जिससे यकबयक दिप उठे उस प्रातिभ कल्पना की अपेक्षा कथाकार से न हो तो फिर किससे हो?

सामाजिक परिवेश के प्रति जैसा एक हाइब्राउ, नाक-भौं सिकोड़नेवाला भाव अभी कुछ समय पहले तक प्रतिपादित किया जाता रहा है, उसके संस्कारवश किसी को यह भय हो सकता है कि सामाजिक परिवेश को रेखांकित करने में हमारा अभिप्राय व्यक्ति को नकारना है। ऐसी कोई बात नहीं। व्यक्ति को नकारकर साहित्य चल ही कहाँ सकता है, जहाँ अपने अलग-अलग मानस-लोकों

के साथ लेखक भी व्यक्ति है, पाठक भी व्यक्ति है, और लेखक का कुल प्रयत्न जीवंत चरित्रों की सृष्टि की दिशा में होता है, और वही उसकी सबसे बड़ी सिद्धि है, जीवंत चरित्र अर्थात् जीते-जागते, हँसते-बोलते व्यक्ति जो भले अपने भीतर समाज का सब दुख-दर्द सब हँसी-खुशी समोये हों लेकिन सबसे पहले और सबके अंत में व्यक्ति हैं जिनकी सफलता की कसौटी यही है कि वे कितनी गहरी रेखाओं में उकेरे गये हैं और व्यक्ति के रूप में उन्हें कितना अविस्मरणीय व्यक्तित्व दिया जा सका है। और फिर व्यक्ति और समाज के बीच दीवार भी कहाँ है ? वह तो एक काल्पनिक सी दीवार है जो कुछ लोग अपने लिए खड़ी कर लेते हैं। हाँ, एक चीज समाज का एस्टैब्लिशमेंट भी है, जो समाज के रूप में, उसका मुखिया और प्रवक्ता बनकर सामने आता है, उससे किसी भी सच्चे और ईमानदार लेखक की कभी चूल नहीं बैठ सकती; अपनी चेतना और अपने विवेक के आलोक में उसको निरंतर चुनौती देते रहना, उसको लंगी मारना, उसको मुँह चिढ़ाना, उसको धोती खोलकर नंगा कर देना उसका सदा का धर्म है। लेकिन जब हम समाज की बात कहते हैं तो हमारा मतलब पूँजी और धर्म और सामाजिक रूढ़ियों का यह सत्ताधारी प्रतिष्ठान नहीं, वह मानव समुदाय होता है जो अपने दुख-दर्द और अपनी हँसी-खुशी के साथ इस समाज में रहता है। जुड़ने की बात उससे है, एस्टैब्लिशमेंट से नहीं।

परिवेश से जुड़ने में व्यक्तित्व-नाश की आशंका शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण के भीतर से पैदा होनेवाले काल्पनिक भय से अधिक कुछ नहीं। जिस अर्थ में साहित्य एक आदमी और दूसरे आदमी के बीच एक सेतु है, उसी अर्थ में साहित्य की अगर कोई अमरता है तो वह यही कि साहित्य अपने देश-काल से जुड़कर आगे की बात करे। साहित्यकार के व्यक्तित्व-नाश की तो बात ही छोड़िए, सच तो यह है कि गूँगे परिवेश को वाणी देने की क्रिया में ही वह अपने को पाता और पहचानता है और दूसरे उसको पाते और पहचानते हैं। परिवेश स्वतः केवल वनस्पति है, उसका जीवन वनस्पति का जीवन है, व्यक्ति की चेतना का योग उसे एक नया जीवन दे देता है, एक नयी अर्थवत्ता, वैसे ही जैसे खेत में बीज पड़ने पर वह खेत एक नये रूप में लहलहा उठता है। लेकिन कब किस खेत में कौन-सा बीज डाला जायेगा इसका निर्णय जिस प्रकार वह खेतिहर करता है उसी प्रकार अपने को कहाँ किस परिवेश में डालना है और उस परिवेश को किस प्रकार अपने भीतर डालना है, अपनी सृजन-प्रक्रिया की खदरबदर करती देगची में, और उसमें से क्या लेना है, और कैसे लेना है और अपने भीतर के रस के योग से कौन सा रसायन बनाकर प्रस्तुत करना है, इसका निर्णय

साहित्यकार का अपना निर्णय होता है जिसके बनाने में उसके घनिष्ठतम-अभिन्नतम व्यक्तित्व का हाथ रहता है और जिसे वह अकसर अनजाने ही, अपने उपचेतन के स्तर पर, बहुत पहले कर चुका होता है, चेतन मन तो उस पर अपनी मुहर भर लगाता है। फिर व्यक्तित्व-नाश की आशंका क्यों? बात तो उस संधि-स्थल की है जहाँ मेरा व्यक्तित्व और मुझसे बाहर वह जो दूसरा व्यक्ति है, क ख ग, उसका व्यक्तित्व दोनों सहज रूप में एक हो जाते हैं।

प्रतिबद्धता

अकसर सभाओं-गोष्ठियों में साहित्यकार की प्रतिबद्धता का प्रश्न उठा करता है। साहित्यकार प्रतिबद्ध होता है या नहीं होता ? उसे प्रतिबद्ध होना चाहिए या नहीं होना चाहिए ? वह केवल अपने प्रति प्रतिबद्ध होता है या अपने से बाहर किसी समुदाय या सत्ता या सत्य या मूल्य के प्रति भी ? अगर वह केवल अपने प्रति प्रतिबद्ध होता है, अर्थात् अपनी रागात्मक संवेदना के प्रति, तो प्रश्न होता है कि उसकी इस रागात्मक संवेदना में किन तत्वों का समावेश होता है ? क्या केवल उसका सौन्दर्यबोध या उसके साथ ही उसका न्यायबोध, सत्यबोध भी ? अगर वह अपने बाहर भी किसी के प्रति प्रतिबद्ध होता है तो वह बाहरवाला कौन है ? क्या कोई राजनीतिक पार्टी या सामाजिक दल या समाज का प्रतिष्ठान या अपने समय का राजा अथवा राजन्यवर्ग या अपना देश या अन्तर्राष्ट्रीय मानवता या प्रस्तुत देश-काल का दलित-पीड़ित वर्ग ? इनमें से कोई एक या सब, अपने-अपने स्तर पर, या कोई नहीं ? आखिर किसके प्रति है साहित्यकार की प्रतिबद्धता, अगर है ?

ऐसे कितने ही प्रश्न हैं, और उलझे हुए प्रश्न हैं, जिन पर अभी हम थोड़ा गहरे उतरकर विचार करेंगे — लेकिन मेरे देखने में ये प्रश्न किसी स्तर पर कुछ उस तरह के प्रश्न भी बन जाते हैं जैसे हम कभी-कभी खिलवाड़ में अपने बच्चों से पूछा करते हैं, तुम किसे ज्यादा प्यार करते हो, हमको या अम्माँ को ? या कि तुम्हें क्या ज्यादा पसंद है, खीर या आइसक्रीम ?

दूसरे सब आदमियों की तरह साहित्यकार भी एक आदमी होता है। दूसरे सब लोगों की तरह उसके भी वही दो हाथ-पैर और दूसरी सब इन्द्रियाँ होती हैं। उसको भी वैसी ही भूख-प्यास लगती है, वैसे ही कभी किसी बात पर गुस्सा, किसी बात पर हँसी और किसी बात पर रोना आता है, (कमाल है कि यह सब कहने की जरूरत पड़ रही है, मगर क्या किया जाय जब कि कुछ लोगों ने उसकी एक ऐसी रोमांटिक और अतीन्द्रिय तस्वीर बना रखी है जिसका मामूली हाड़-मांस के आदमी से जैसे कोई मेल ही न हो, कि जैसे वह किसी दूसरी दुनिया का कोई दूसरा ही प्राणी हो !) वह भी

औरों की तरह अपने ही जैसे दूसरे आदमियों के बीच रहता है और वही सब रोग-शोक, दुख-दर्द और अन्याय-अत्याचार भोगता है जो कि दूसरे सब भोगते हैं। उन्हीं सब से तो उसका अनुभव-कोष बनता है जो निखरकर, छनकर उसके साहित्य में आता है — और वही तो जाकर प्रतिध्वनित होता है पाठक के हृदय में और उसे लगता है कि कोई जैसे उसके दिल की ही बात कह रहा है, एक ऐसी बात जिसकी अनुभूति तो उसको भी होती थी पर जिसके लिए उसके पास शब्द नहीं थे। कुल इतना ही तो खेल है साहित्य का। ऐसा न हो तो कोई कहानी या कविता लिखकर छपाये ही क्यों और दूसरा आदमी उसे पढ़े ही क्यों ?

तो क्या इससे यह समझा जाय कि साहित्यकार और पाठक में कोई अंतर ही नहीं ? नहीं, अंतर है। सबसे बड़ा अंतर तो यही है कि एक की अनुभूति गूँगी है और दूसरे के पास उसके लिए वाणी है; एक का जी मसोसकर रह जाता है, वह कुछ कह नहीं पाता, दूसरा उसे कह लेता है। इसी अर्थ में साहित्यकार उस दूसरे सामान्य जन की तुलना में विशिष्ट है, कि उसके पास एक विशेष क्षमता है जो दूसरे के पास नहीं है। और यह क्षमता केवल वाणी की क्षमता हो, ऐसी भी बात नहीं; इससे भी बड़ी बात यह है कि साहित्यकार अधिक अंतर्दृष्टि-संपन्न व्यक्ति होता है। दूसरे आदमी की नजर जहाँ कुछ ऊपरी बातों में उलझ-कर रह जाती है, साहित्यकार की नजर उनकी तह में पैठती है या पैठने की कोशिश करती है; दूसरा आदमी जहाँ वस्तुओं को या घटनाओं को अलग-अलग इकाइयों में ही देखने का आदी होता है, साहित्यकार उन्हें उनके अन्तस्संबंध में भी देख पाता है। तीसरी बात, उसके पास वह सर्जनात्मक प्रतिभा होती है जो अनुभूति के कच्चे माल को उसके अनुरूप आकार में ढाल लेती है — जिसमें ही उस अनुभूति की गहनतर, सूक्ष्मतर, सघनतर पहचान और फिर उसको लिपिबद्ध करने की क्रिया में उसका रूप-विपर्यय भी निहित होता है।

लेकिन साहित्यकार के मन की ये तीनों विशेष क्षमताएँ, जिन्हें ही एक में जोड़कर उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा कहा जाता है, उसके **साहित्य-कर्म** से संबंध रखती हैं, उसकी **जीवन-स्थिति** से नहीं, वहाँ पर वह भी उसी धरातल पर खड़ा होता है जहाँ दूसरे सब लोग खड़े हैं। और इस बात को कहने की जरूरत है।

यह धरातल वही है जहाँ पर वह व्यक्ति भी है और समष्टि का अंग भी है। दोनों में कोई विरोध नहीं है और न उनके बीच लक्ष्मण-रेखाएँ खींचना संगत है। साहित्यकार और उसके कर्म की रोमांटिक परिभाषा में से ही ये लक्ष्मण-रेखाएँ निकलती हैं, और साहित्य का इतिहास हमें बताता है कि प्रस्तुत देश-काल में

आदमी जो जिन्दगी जी रहा है उसको नकारनेवाली यह शुद्ध कलावादी दृष्टि अकसर ऐसे ही समय में सामने आती है जब कि समाज अपने किन्हीं महत् जीवन-मूल्यों से लक्ष्यभ्रष्ट होकर भटकने लगता है, टूटने और बिखरने लगता है; जब कि सामाजिक जीवन में ऐसी कोई स्फूर्तिदायिनी क्रियाशीलता नहीं बचती जो मूल्यपरक हो और अधिकाधिक लोगों को अपने साथ समेटकर साहसपूर्वक एक ऐसे रास्ते पर चल रही हो जो कि मात्र सांसारिक सफलता का रास्ता नहीं है बल्कि सबसे पहले किसी नये मूल्यबोध को जीवन में चरितार्थ करने का रास्ता है। ठीक वही स्थिति जो आज इस देश में है, और संसार के और भी बहुत से देशों में है। इसीलिए देखने में आता है कि साहित्य की ऐसी समाज-विमुख प्रवृत्तियाँ, जिनके निकट किसी तरह की सामाजिक प्रतिबद्धता विष के समान है, किसी देश के स्वाधीनता-संग्राम या क्रान्तिकारी संघर्ष के समय नहीं दिखायी पड़तीं बल्कि उस समय दिखायी पड़ती हैं जब कि स्वाधीनता मिल जाने के बाद नये देशी शासकों के गद्दी पर बैठने पर स्वाधीनता-प्राप्ति के मौलिक उद्देश्यों के प्रति विश्वासघात किया जाता है और देश के जनगण का मनोबल कुछ समय के लिए टूट जाता है, समाज नये संघर्षों की क्षमता अपने भीतर नहीं पाता, और अधिकाधिक लोग चरित्र-भ्रष्ट होकर एक ही बहती गंगा में हाथ धोने लगते हैं। ठीक वही बात जो आज हमारे देश में हो रही है। इसीलिए यह आकस्मिक नहीं है कि इस तरह की कुछ प्रवृत्तियाँ पिछले दिनों हमारे यहाँ दिखायी पड़ीं — और अब एक बार फिर जब कि देश एक नये क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए तैयार सा होता दिखायी पड़ रहा है (भले उसकी रूपरेखा बहुत साफ न हो, उलझी-उलझी सी हो) साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता की आवाज उत्तरोत्तर तेज होती जा रही है।

पतंग सारे आकाश में उड़ती रहती है, लेकिन उसकी डोर नीचे किसी के हाथ में रहती है जो खुद मजबूती से धरती पर पैर जमाये खड़ा है। यह डोर न हो तो पतंग जाने किस घाट लगे — और उससे भी पहले, डोर के बिना वह आसमान पर चढ़ेगी भी कैसे ? इसी डोर के सहारे तो वह धरती से आकाश पर जाती है, तरह-तरह के खेल करती है, पेंच लड़ती है, कभी काटती है कभी कटती है, और बची रह गयी तो दिन डूबे फिर आकाश से धरती पर उतर आती है।

साहित्यकार का कर्म भी कुछ वैसा ही है। धरती पर मजबूती से आसन जमाये साहित्यकार अपनी उसी प्रतिबद्धता की डोर से धरती और आकाश को एक किये रहता है। पतंगवाला रूपक अपने दोनों ही अर्थों में उसके कर्म पर

पूरी तरह से सच्चा उतरता है। एक तो अपनी उस प्रतिबद्धता की डोर से बँधा रहने के कारण उसका कर्म तरह-तरह के थपेड़ों में पड़कर (जिनसे मेरा अभिप्राय जीवन के सुख-दुख से भी है और वैचारिक प्रसंगों से भी) बहकने या भटकने नहीं पाता, और कभी कुछ भटकाव आता भी है तो फिर जल्दी ही अपना ठीक रास्ता मिल जाता है। दूसरे यही प्रतिबद्धता उसकी रचना-वृत्ति की स्फूर्ति भी होती है।

पहली बात के बारे में शायद ज्यादा कुछ कहने की जरूरत नहीं है। स्पष्ट है कि जो व्यक्ति कहीं पर किसी से बँधा हुआ नहीं है उसके भटकने या बहकने की आशंका कहीं ज्यादा है उस व्यक्ति की तुलना में जो बँधा हुआ है। प्रतिबद्धता भी एक प्रकार का बंधन ही है लेकिन जिस तरह सब बंधन कष्टकर नहीं होते, बल्कि कितने ही बंधनों का तो व्यक्ति स्वेच्छा से वरण करता है और उनमें सुख पाता है, उसी तरह प्रतिबद्धता, जहाँ वह आरोपित बंधन नहीं स्वेच्छा से वरण किया गया बंधन है, कष्टकर नहीं होती, बल्कि सुख देनेवाली होती है। आरोपित बंधन कैसा भी हो, किसी भी राजनीतिक या सामाजिक या धार्मिक सत्ता या प्रतिष्ठान का, उससे आत्मा का हनन होता है। स्थूल रूप में हो चाहे थोड़े सूक्ष्म रूप में, जल्दी हो चाहे थोड़ी देर से, होता अवश्य है। और ऐसे सब बंधनों को तोड़कर, उनका प्रतिकार करके, उनके विरुद्ध निरंतर संघर्ष करके ही साहित्य सार्थक रूप में जीवित रह सकता है और आज तक रहता आया है।

यहीं पर एक तरह से सोचनेवाले कुछ साहित्यकार आरोपित बंधन और इच्छित बंधन के मौलिक अन्तर को न देखकर बंधन मात्र से मुक्ति में अपनी मुक्ति खोजने लगते हैं—और भटक जाते हैं। क्यों? इसीलिए कि वैसी कोई मुक्ति नहीं है। वह आरोपित मुक्ति है। और जिस प्रकार आरोपित बंधन आत्मा के सत्य को मारकर जीवन के सत्य की हत्या करता है, उसी प्रकार यह आरोपित मुक्ति जीवन के सत्य को मारकर आत्मा के सत्य की हत्या करती है। जीवन का सत्य सांसारिक बंधनों के बीच से पायी जानेवाली मुक्ति में है, उन बंधनों को झुठला देनेवाली मुक्ति में नहीं।

इसका मतलब यह नहीं कि हम दार्शनिक तत्त्वचिंतन को, परमार्थ-चिंतन को, वैराग्य और मोक्ष की व्यक्ति-साधना को छोटा करके दिखलाना चाहते हैं; हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि वह साहित्य की भूमि नहीं है। उनकी दृष्टि परलोक-दृष्टि है जब कि साहित्य की दृष्टि लोक-दृष्टि होती है। 'साहित्य' नाम से ही प्रकट है कि वह सबके 'सहित' है, वियुक्त या विरक्त नहीं। और सच तो

यह है कि उस रुग्ण विचारक की यह आत्मवंचक कल्पना ही है जब कि वह कहता है कि वह सब बंधनों से मुक्त होकर रहेगा। किस-किस बंधन से मुक्त होगा? भूख-प्यास से, कि जरा-मरण से, कि रोग-शोक से, कि सारे आत्मीय सम्बन्धों से जो अनजाने ही दो व्यक्तियों को एक दूसरे से बाँध देते हैं? संबंध भी बंधन है, प्रति-बद्धता भी बन्धन है; बंधन से जीते जी छुटकारा नहीं है। वह बेचारा सोचता है, और कहता है कि वह इस तरह मुक्त होकर रहेगा, जैसे मुक्त प्रकृति। हम नहीं जानते सृष्टि में क्या है जो मुक्त है, उस परम बोहीमियन अर्थ में। प्रकृति-अनुगामी उस बोहीमियन कवि के सोने-जागने का कोई ठीक समय भले न हो पर सूरज अपने ठीक समय पर निकलता है और ठीक समय पर डूबता है। घड़ियों का बाप है वह। कोई बैरा-खानसामा या अखबारवाला वक्त का इतना पाबंद नहीं। वही हाल चाँदबीबी या चन्दामामा का है। समुद्र के ज्वार-भाटे सब सुनिश्चित हैं। हजार बरस आगे तक के सूर्यग्रहण-चंद्रग्रहण की तिथि और समय देनेवाले पंचांग ढूँढ़े से मिल जायेंगे। अपने सीमित ज्ञान-विज्ञान के बल पर आदमी जितनी सब बेहूदगियाँ कर रहा है, उनके चलते वर्षा का क्रम जरूर थोड़ा सा गड़बड़ा गया है, लेकिन तब भी बहुत नहीं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि २० जून तक मानसून आ ही पहुँचेगा। इन बड़ी-बड़ी चीजों के साथ-साथ छोटी-छोटी चीजें भी सब सुनिश्चित हैं जैसे यह कि आम गर्मी में होता है और अमरूद जाड़े में। कहने का आशय यह कि समस्त सौरमंडल, और इसी तरह के और भी जाने कितने असंख्य सौरमंडल, सारे ग्रह-उपग्रह, सब अपने अस्तित्व के और एक दूसरे के बंधन में बँधे हुए हैं — और सृष्टि की सुरक्षा भी इसी में है। कहीं पर जरा सा भी व्यतिक्रम हो जाय तो महाप्रलय होने में देर नहीं लगेगी। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि ऐसा कोई व्यतिक्रम नहीं होगा और प्रलय अगर होगा तो प्रकृति के कोप से नहीं, आदमी की अपनी करनी से। प्राकृतिक नियमों से अधिक कठोर तो कोई नियम ही नहीं, जिनकी उपेक्षा का भयानक दंड मिलता है। यम, नियम, संयम, नियति सब बन्धन हैं और सब का संकेत उसी एक सत्य की ओर है जो समस्त सृष्टि में अनुस्यूत है, जिसके ही आदेश से यह सृष्टि का क्रम एक धागे में पिरोया हुआ सा चल रहा है — नाम उसको जो भी दिया जाय, चाहे ईश्वर, चाहे प्रकृति, चाहे ऋतु, चाहे दूसरा कोई कॉज़मिक लॉ। यह रोमांटिक, नितांत बंधनहीन, स्वच्छंद मुक्ति, मानव समाज की तो बात छोड़ ही दीजिए प्रकृति में भी कहीं नहीं दिखायी पड़ती। वह शुद्ध कल्पना है, बीमार, आत्मवंचक कल्पना एक नये रोमांटिक की, जो सबको अपने ही रंग में देखना चाहता है। हाँ, प्रकृति के सब नियमों की अवहेलना करके अपने को नष्ट कर

लेने की स्वतंत्रता प्रकृति में भरपूर है — यह स्वतंत्रता तो मानव-समाज में भी है, प्रकृति में और भी ज्यादा — क्योंकि उसके नियम मानव-समाज के नियमों से भी अधिक निर्वैयक्तिक हैं, नितान्त निर्वैयक्तिक।

कवि या कलाकार के अपने को नष्ट कर लेने की बात मात्र 'रेटरिक' या वक्तृता का अलंकार नहीं है। साहित्य के इतिहास में ऐसे लेखकों और कवियों और कलाकारों (गद्यकार कम और कवि अधिक) के उदाहरण मिलते हैं जहाँ उन्होंने अपनी इस निर्बल मुक्ति के प्रपंच में पड़कर अपने को गोली मार ली है या जहर खाकर सो गये हैं या बेहिसाब औरतों और शराब और गाँजा और चरस आदि का सेवन करके अपनी क्रियाशक्ति-रचनाशक्ति को नष्ट कर लिया है और थोड़ा-बहुत कुछ लिख-लिखाकर छुट्टी कर गये हैं। दोनों ही स्थितियों में बात एक ही ठहरती है — कवि अपनी संभावनाओं को उपलब्ध नहीं कर सका और बीच में ही बिखर गया। ऐसे ढेरों उदाहरण आज आपको अपने यहाँ भी मिल जायेंगे। मगर क्यों ? ऐसा क्यों होता है। इसीलिए कि कवि ने अपनी मुक्ति के भ्रम में पहले जीवन के सत्य को और फिर अपनी आत्मा के सत्य को झुठलाया। हम ऊपर देख चुके हैं कि जीवन का सत्य वस्तुओं और व्यापारों की निर्बंध इकाई में नहीं, उनकी संलग्नता में ही पाया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा का सत्य भी कोरी सौंदर्य-साधना से तृप्त नहीं होता, जो कि आज के इन रोमांटिक कवियों और विचारकों का मूलमंत्र है, और जिसे पहले के रोमांटिक कवियों शेली, बायरन, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, पुशकिन आदि से अलग करके देखने की जरूरत है। चित्त की और भी वृत्तियाँ हैं, जो आप से अपनी अभिव्यक्ति माँगती हैं, जैसे सत्य की जिज्ञासा, जैसे न्याय की भावना, जैसे अपनी और सबकी सहज हितैषणा, सर्वे भवन्तु सुखिनः — अपने मन को अच्छी तरह टटोलकर देखिए, ये बाह्य लोकाचार के आग्रह नहीं, आपके मन की सच्ची वृत्तियाँ हैं जिन्हें अभिव्यक्ति देकर ही आप अपने साहित्यकार मन को आप्यायित कर सकते हैं, उसके प्रति पूर्ण न्याय कर सकते हैं। हम यह नहीं कहते कि मन की ये वृत्तियाँ सदा एक जैसी चमाचम चमकती रहती हैं — नहीं, स्टेनलेस स्टील के बर्तनों की तरह उन पर भी काई और मैल जमती है जिसे रोज घिसकर साफ करना पड़ता है, भीतर की उस चमक को बाहर ले आने के लिए, उसे बनाये रखने के लिए। और जब हम मैले और दाग-धब्बेदार गिलास से पानी पीना नहीं पसंद करते तब अपनी इन मैली चित्तवृत्तियों को ही, आलस्य या प्रमादवश, माँजेंगे नहीं, धोयेंगे नहीं, निखारेंगे नहीं, चमकायेंगे नहीं, यह तो कोई बात

नहीं। सबसे पहले तो यह स्वयं अपने प्रति अन्याय है, और फिर अपने साहित्यिक कर्म के प्रति अन्याय है।

और इस अन्याय का उसको दंड मिलता है — प्राणदंड, साहित्यकार के रूप में। सो कैसे, वह हम अभी देखने का यत्न करेंगे।

हम ऊपर कह आये हैं कि प्रतिबद्धता की डोर न होने से साहित्यकार (या कोई भी आदमी) इधर-उधर भटकने लगता है, जो काफी स्पष्ट-सी बात है। लेकिन इसी सिलसिले में एक और भी बात हमने कही थी — कि बात इतनी ही नहीं है कि अपनी इस डोर के बिना पतंग आसमान में पहुँचकर बेसहारा भटकने लगती है, उससे भी पहले की और ज्यादा बड़ी बात यह है कि इस डोर के बिना वह पतंग आसमान पर चढ़ ही नहीं सकती। साहित्यकार के कर्म के सन्दर्भ में इस रूपक को खोलने की क्रिया में ही हमको इसका भी उत्तर मिल जायेगा कि जो साहित्यकार अपनी तथाकथित सौंदर्यवादी दृष्टि के फेर में पड़कर (तथाकथित इसलिए कि सौंदर्य की सहज वृत्ति भी चित्त की और सब वृत्तियों के साथ मिलकर ही अपनी वास्तविक संज्ञा को प्राप्त होती है, उन्हें झुठलाकर या काटकर नहीं, जैसे कि स्वास्थ्य सौंदर्य का एक आवश्यक अंग है) अपने मन की और सब वृत्तियों को नकारते हैं, जो कि उनकी मानव स्थिति में से ही निकलती हैं और उनकी सहज मानव प्रतिबद्धता को ही द्योतित करती हैं, वे क्योंकर साहित्यकार के रूप में प्राणदंड के भागी हैं।

साहित्यकार के लिए उसकी सर्जनात्मक स्फूर्ति ही उसका प्राण है। उसका छिन जाना या चुक जाना ही उसके लिए प्राणदंड है। यह सर्जनात्मक स्फूर्ति अपने समग्र रूप में उसके समग्र मन के भीतर से ही आ सकती है, आती है। एकांगी सौंदर्यवादिता, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मन की ढेरों अन्य वृत्तियों को अनभिव्यक्त छोड़ देती है और मन भूखा रह जाता है क्योंकि यह अभिव्यक्ति ही तो मन की सबसे बड़ी भूख है। आरम्भ में, काफी दिनों तक, मन इस स्थिति को स्वीकार नहीं करता, भीतर ही भीतर विद्रोह की सी कुछ सुगबुगाहट होती है। फिर हमारा यह सौन्दर्यवादी कलाकार मन को सुला देने का रास्ता पकड़ता है, एक न एक नशे के जरिये, फिर वह नशा चाहे गाँजा-शराब हो चाहे औरत और चाहे अधिकारलिप्सा। आखिरकार मन की वे वृत्तियाँ, जिनके कारण ही मन का वह विद्रोही स्वर था, धीरे-धीरे सो जाती हैं या सुला दी जाती हैं, कुछ इन नशों से और कुछ स्वतः, निरन्तर की भूख और निष्क्रियता से, क्योंकि यह भी मनोविज्ञान की एक जानी-मानी बात है कि शरीर की तरह मन के लिए

भी उचित आहार और व्यायाम आवश्यक है, शरीर की ही तरह मन को भी अभ्यास द्वारा दीक्षित करना पड़ता है ।

अपने भीतर के उस विरोधी-विवादी स्वर को सुलाकर यह सौंदर्यवादी कलाकार बहुत प्रसन्न होता है और समझता है कि उसकी कला-यात्रा अब निर्विरोध और निष्कंटक हो सकेगी — लेकिन एक छोटी सी बात वह भूल जाता है कि अपने जिस मन को लेकर वह अपना कारबार करने निकला है वह उसका पहलेवाला सहज और समग्र मन नहीं, उसका एक बहुत छोटा सा कोना है । फिर जब तक बनता है, वह उसी से अपना व्यापार करता है । लेकिन उसकी व्याधि भी अपना काम करती रहती है — वही उसके मन को छोटा करनेवाली, खर्व करनेवाली, खंडित करनेवाली, आदमी के रूप में खुद उसको और दूसरे आदमी को छोटा करनेवाली उसकी व्याधि — जिसके फल-स्वरूप उसका मानसलोक उत्तरोत्तर सिमटता चला जाता है, उसका रचना-संसार छोटे से और छोटा होता चला जाता है, उसकी संवेदनाएँ भोंथी हो जाती हैं, उसका विवेक मुमूर्षु हो जाता है...

फिर भी कलम चलता रहता है, भले अपनी एक लीक पर ही हो । लेकिन एकांगी सौन्दर्यवाद जिस अर्थ में मनुष्य की सहज वृत्ति नहीं, एक अस्वाभाविक मानसिक आरोपण है, नैसर्गिक सौंदर्यदृष्टि के समान विकासशीलता उसमें नहीं होती, वह एक जड़ वस्तु होकर रह जाता है । कि जैसे रंग-बिरंगे पत्थर और शीशे के टुकड़ों की एक पिटारी, जो चलती है, जब तक चलती है — लेकिन फिर जल्दी ही सब कुछ बासी और पुराना हो जाता है, नितांत आवृत्तिमूलक, कथितकथन-मथितमथन एक उसी बात का, एक उसी शैली में, यहाँ तक कि और तो और स्वयं कवि भी ऊब जाता है और फिर एक दिन अपना कलम उठा कर रख देता है । वही उसके प्राणदंड का दिन होता है ।

यह बिलकुल अलग बात है कि लेखक किसके प्रति अपने दायित्व को सका-रता है और किसको नकारता है, कौन-सा बंधन उसकी इच्छा का बंधन है और कौन-सा अनिच्छा का, लेकिन दायित्व मात्र और बन्धन मात्र से मुक्ति की बात कहना हमारी समझ में गलत है; वह किस प्रकार आत्मछलना से आरम्भ होकर आत्मघात में समाप्त होती है, यह हम पहले देख चुके हैं ।

यह कहना कि लेखन के रूप में मेरा अकेला दायित्व अपने लेखन के प्रति है और मेरी कला का बन्धन ही एकमात्र मेरी इच्छा का बन्धन है, प्रस्तुत प्रश्न से ही बच निकलने का यत्न है । हम थोड़ी देर के लिए यह मान सकते हैं कि लेखक जब तक केवल लिख रहा है और अपना लिखा कुछ भी छपा नहीं रहा

है तब तक किसी को उससे यह प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं है (और सच तो यह है कि तब तक कोई उससे कुछ पूछने भी नहीं जाता) लेकिन जैसे ही वह प्रकाशित होकर दूसरों के सामने आता है वैसे ही, उसी क्षण, यह प्रश्न संगत हो जाता है, क्योंकि मात्र लेखन सामाजिक क्रिया हो या न हो (वैसे तो समाज में रहना मात्र भी एक सामाजिक क्रिया है, जिसके चलते समाज किसी बिलकुल ही अकर्मण्य व्यक्ति से यह पूछ सकता है कि तुम क्यों हो ? तुम्हारे जीवन की क्या सार्थकता है ? इसके उत्तर में वह व्यक्ति समाज को ही मुजरिम के कठघरे में खड़ा करते हुए यह भी कह सकता है कि यह सवाल तुम अपने आप से पूछो क्योंकि तुम्हीं ने मेरी यह हालत कर रक्खी है !...लेकिन जो भी उसका उत्तर हो, दोनों के बीच एक संवाद की स्थिति तो बनती ही है) प्रकाशन तो निश्चय ही एक सामाजिक क्रिया है, एक अलिखित अनुबंध लेखक और पाठक के बीच जो प्रत्येक पाठक को लेखक से यह पूछने का अधिकार दे देता है कि आपने अमुक रचना लिखी तो क्यों लिखी ? किसके लिए लिखी ? आप क्या कहना चाहते हैं ?

इसीलिए हमने ऊपर कहा कि दायित्व के प्रश्न का उत्तर इस रूप में देना प्रश्न से कतराकर निकल जाने की कोशिश करना है ।

एक चतुर उत्तर इस प्रश्न का यह भी दिया जाता है कि मेरे सामाजिक दायित्व जो भी हैं उनसे मुझे इन्कार नहीं पर वे एक नागरिक के रूप में मेरे दायित्व हैं, लेखक के रूप में मेरा अपने को और अपने लेखन को छोड़कर किसी के प्रति कोई दायित्व नहीं । यह बात भी कुछ समझ में नहीं आती । अपने लेखक और अपने नागरिक को इस तरह दो अलग खानों में बाँटकर कैसे रखा जा सकता है, हम नहीं जानते । आदमी तो समग्र रूप से एक है, अखंड है । एक ही मन है जिसके द्वारा उसकी सब क्रियाएँ संचालित होती हैं । उसको आप चाहें भी तो नहीं बाँट सकते । जब चाहे परीक्षा करके देख लीजिए । बड़ी बातों की तो चर्चा ही व्यर्थ है, छोटे से छोटे स्तर पर भी नहीं बाँट सकते । कागज के दो टुकड़े लीजिए, दोनों हाथों में एक-एक पेंसिल लीजिए, एक साथ दोनों हाथ चलाइए, इस तरह कि एक हाथ से गोला बने और दूसरे से त्रिकोण । करके देखिए, नहीं कर सकेंगे । बहुत ही छोटी बात है, बच्चों के खिलवाड़ जैसी, लेकिन वह भी आप नहीं कर सकते । क्यों ? इसीलिए कि मन को खंडित करना संभव नहीं । और जब मन को इतनी-सी चीज के लिए खंडित नहीं किया जा सकता तब साहित्यसृजन जैसे पूर्ण समर्पण या आधुनिक शब्दा-

वली में Total involvement माँगनेवाले अभिन्न और आत्यंतिक कर्म के स्तर पर कैसे खंडित किया जा सकता है ?

यहाँ तक तो ठीक है कि साहित्यकार का कर्म एक विशिष्ट प्रकार का कर्म है । इस नाते एक ही व्यक्ति की नागरिक के रूप में और साहित्यकार के रूप में प्रतिक्रिया का स्वरूप भिन्न हो सकता है, अकसर होता भी यही है क्योंकि साहित्य-सृजन की अलग एक प्रक्रिया होती है जिसके अपने नियम और अनुशासन है। लेकिन इस स्वरूपगत भिन्नता को आधार बनाकर दोनों को इस तरह दो अलग खानों में नहीं बाँटा जा सकता कि जैसे दोनों एक दूसरे के लिए अजनबी हों, क्योंकि एक आंतरिक संहृति, एक तात्त्विक एकता, दोनों में होनी चाहिए, यदि यह साहित्यसृजन सच्चा है । इसलिए कि दोनों का शास्ता मन एक है ।

हम इस बात से इन्कार नहीं करते कि आज के इस जटिल युग में व्यक्तित्व अनेक प्रकार से खंडित होते हैं । पर खंडित होते हैं, इसीलिए उन्हें साहित्य का या जीवन का एक मूल्य नहीं बनाया जा सकता । यह एक तरह की मानसिक व्याधि है जिसके लिए एक शब्द भी है, शिज़ोफ्रेनिया। और व्याधि, कोई भी व्याधि, शरीर की हो या मन की, उपचार करने की चीज होती है, अभिषेक या स्तवन करने की नहीं। अगर एक बार यह भी मान लें कि बहुत बड़ी संख्या में लोग इस रोग से पीड़ित हैं, जो कि सच नहीं, तो भी नहीं, उसी तरह जैसे महामारी के दिनों में जब बहुत बड़ी संख्या में लोग हैजे और ताऊन के शिकार हो जाते हैं तब भी वह महामारी महामारी ही रहती है जिससे लड़ने के आदमी हजार तरीके सोचता है, उसकी शान में कसीदे पढ़ता नहीं बैठता और न उसके पक्ष में दलीलें जुटाता फिरता है । और फिर जब साहित्यकार अपने को साधारणजनों से विशिष्ट समझता है, और किसी अर्थ में होता भी है, तब क्या यह केवल अपने विशिष्ट सौंदर्यबोध के आधार पर ? नहीं, उसके अलावा भी उसके भीतर कुछ विशिष्ट होना चाहिए, तब वह अपने पढ़नेवालों के हृदय में कोई गहरी जगह बनाता है और अपने मरने के बाद भी सौ-पचास बरस जिन्दा रहता है, जैसे विशिष्ट संवेदना, विशिष्ट अंतर्दृष्टि, विशिष्ट विवेक, विशिष्ट साहस, विशिष्ट जिज्ञासा, विशिष्ट चरित्र...इन सबके योग से ही श्रेष्ठ साहित्य बनता है । खंडित मन की पूजा वैसे ही खंडित साहित्य को जन्म दे सकती है जो पहले से ही अल्पप्राण होता है । लेकिन यहीं पर यह कह देना जरूरी है कि खंडित मन और द्विधाग्रस्त मन हमारी दृष्टि में एक ही चीज नहीं हैं । 'खंडित मन' कहने के पीछे कदाचित् मन के विभाजन को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार कर लेने का भाव रहता है, द्विधाग्रस्त मन कहने के पीछे ऐसा कोई भाव नहीं होता;

उसमें चित्त की विभिन्न और विरोधी वृत्तियों — स्वार्थ-लोभ-कायरता आदि दुर्बल वृत्तियों (जो अधिक सबल होती हैं) और त्याग-सत्यरक्षा-साहस आदि सबल वृत्तियों (जो वस्तुतः दुर्बल होती हैं) — को तो स्वीकारा जाता है लेकिन उन्हें दो अलग खानों में बाँटकर छुट्टी नहीं पा ली जाती क्योंकि समग्र दृष्टि मन का सत्य इन विभिन्न और विरोधी वृत्तियों के द्वंद्व में देखती है।

पहले का आदर्शवादी साहित्य अधिकांशतः चित्त की इन दुर्बल वृत्तियों को अनदेखा करके आदमी को अच्छा ही अच्छा दिखलाता था, आज का यह 'आधुनिकतावादी' साहित्य उसकी सबल वृत्तियों को अनदेखा करके उसे बुरा ही बुरा दिखलाना चाहता है, लेकिन हम समझते हैं कि ये दोनों ही दृष्टियाँ भ्रामक हैं। हमारी समझ में श्रेष्ठ साहित्य वह है, जो दोनों के द्वन्द्व को अधिक से अधिक ईमानदारी के साथ चित्रित करता है। आधुनिक मनस्तत्व-विज्ञान हमें जो कुछ बताता है उसकी रोशनी में शायद सच्चे अर्थों में आधुनिक दृष्टि भी यही है।

जो हो, हमने ऊपर विस्तार से परीक्षा करके देखा कि ये दोनों ही विचार-सरणियाँ दोषपूर्ण हैं — वह, जिसकी मान्यता है कि लेखक और उसके लेखन को अपने से बाहर किसी से कुछ लेना-देना नहीं और लेखक का जो भी दायित्व होता है केवल अपने लेखन के प्रति होता है; और वह भी, जो सामाजिक दायित्व की बात से तो इन्कार नहीं करती पर साहित्यकार व्यक्ति को लेखक और नागरिक के दो खंडों में बाँटकर और सामाजिक दायित्व सब उसके नागरिक को सौंपकर व्यवहारतः लेखक के सामाजिक दायित्व को नकार देती है।

हमारा विश्वास है कि सामाजिक प्रतिबद्धता, मानव प्रतिबद्धता के रूप में लेखक की मानव स्थिति में निहित है। प्रश्न केवल उसको अपने लिए, अपने सृजनकर्म के हित में, परिभाषित करने का है।

ऊपर जो कुछ इस प्रसंग में कहा जा चुका है उसको पीठिका बनाकर और पहले की सब बातों को समेटते हुए अब इतना ही कहना शेष है कि यह प्रतिबद्धता सबसे पहले लोकहित के प्रति होती है, कि यह प्रतिबद्धता अपने भीतर से, अपनी चेतना और अपने विवेक के भीतर से आने पर ही सच्ची और सृजनकर्म के लिए शुभ सिद्ध होती है, बाहर से आनेवाली किसी भी संस्था या दल या प्रतिष्ठान द्वारा आरोपित प्रतिबद्धता अंततः स्वतन्त्र सृजनकर्म में बाधा पहुँचाती है और लेखक को छोटा करती है; कि यह प्रतिबद्धता एक साथ ही अपने प्रति और अपने से बाहर उन दूसरे व्यक्तियों के प्रति होती है, जिन्हें जनसमाज कहा जाता है और जिन्हें 'समाज' नामक एस्टैब्लिशमेंट से अलग करके देखना

ज़रूरी है; कि यह प्रतिबद्धता सामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक काय-क्रमों से अधिक गम्भीर अर्थ में उन सबके सारतत्व कुछ श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों के प्रति होती है क्योंकि सर्जनात्मक साहित्य प्रथमतः संवेदना और अंततः मूल्यों के स्तर पर काम करता है ।

विद्रोह और विद्रोह की भंगिमा

दोनों दो अलग चीजें हैं। एक अन्तरंग है, दूसरा बहिरंग। बहुत बार बहिरंग से अन्तरंग का धोखा हो जाया करता है; लेकिन वह स्थूल दृष्टि की बात है; थोड़ा-सा ही भीतर पैठने पर भेद खुल जाता है।

सच्चे विद्रोही के पास विद्रोह की भंगिमा नहीं होती, न साधारण बोलचाल में और न वेशभूषा में, और न दैनिक जीवन के दूसरे किसी वाह्याचार में। अक्सर वह बहुत सीधा-सा आदमी होता है जिसे यों देखकर शायद कोई विद्रोही के रूप में पहचान भी नहीं सकता। ऋृजुता उसके चरित्र का एक आवश्यक गुण होता है। विद्रोही चेतना को बल पहुँचाने के लिए, उसे संगठित करने के लिए अवसर उपस्थित होने पर, वह निश्चय ही गंभीर शब्दों में, तेजस्वी शब्दों में, प्रखर शब्दों में, आवश्यक हो तो क्रुद्ध शब्दों में, अन्यथा बहुत ही शांत-संयत शब्दों में विद्रोह की अपनी व्याख्या और अपनी परिकल्पना लोगों के सामने रखता है बह अपने को विद्रोही प्रचारित करता हुआ हर समय शहर में उसकी डुग्गी नहीं पीटता फिरता, और न उसे यही भ्रम सताता है कि एक खास तरह की दाढ़ी या एक खास तरह का बाल या एक खास तरह की पोशाक विद्रोही के लिए या विद्रोह के लिए जरूरी है।

उसके विपरीत, मंच पर खड़े होकर विद्रोह का अभिनय करनेवाले के लिए वही चीजें सर्वोपरि हो जाती हैं और विद्रोह की या आत्मा के भीतर पैठने की उसे प्रेरणा ही नहीं होती। उसका सारा कारोबार बस उन्हीं कुछ मुद्राओं या भंगिमाओं से चलने लगता है, और कौन जाने निरंतर अभ्यास से शायद वह उसी को असल चीज समझने लगता है। पर देखनेवाला तो दोनों के अंतर को देखता ही है।

संप्रति, अनेकानेक लघुपत्रिकाओं के माध्यम से आनेवाले बहुत से युवा लेखन में विद्रोह की यही भंगिमा देखने को मिलती है। विद्रोह, जिसका कोई रूप नहीं, रंग नहीं, दिशा नहीं, लक्ष्य नहीं। कुछ वही पहले के 'संत्रास' जैसी स्थिति। न उस 'संत्रास' के रग-रेशे अलग करके उसे देखने और वर्तमान संदर्भ से जोड़कर समझने का यत्न किया गया, और न इस विद्रोह को उसके

वास्तविक देश-काल के जीवंत संदर्भ में रखकर देखने-पहचानने का, उसकी दिशा स्थिर करने का, अपने नये जीवन-मूल्यों की ऊर्जा से उसको अनुप्राणित करने का यत्न किया जा रहा है, जब कि यही जीवन-मूल्य किसी भी विद्रोह के मेरुदंड होते हैं। शायद ऐसा न करने के पीछे दो कारण हैं — एक, संसार की और मुख्यत: अपने देश की वर्तमान सामाजिक-राजनीतिक स्थिति, जो न केवल इस कार्य में सहायक नहीं होती बल्कि दिशाभ्रम को और भी बढ़ाती है; और, दो, लेखक के मन में बैठा हुआ यह चोर कि ऐसा करते ही उस विद्रोह का कौलीन्य, उसका आभिजात्य, घट जायेगा, उसका स्तर गिर जायेगा, वह एक परिचित-सी चीज लगने लगेगी और कदाचित् उसकी तुलना दूसरे किन्हीं सामाजिक विद्रोहों से की जाने लगेगी जो इतिहास के क्रम में कहीं पहुँचकर भटक गये या जिनकी कुछ बातों से अपना विरोध है।

बादवाली बात पहले लें। यह खतरा तो है, लेकिन जो उसका खतरा है वही उसकी सफलता की प्रतिश्रुति भी है। लोक-आधार के बिना कभी कोई विद्रोह सफल नहीं हुआ, अर्थात् अगर विद्रोह करके नये समाज की रचना करनी है और केवल उसका अभिनय नहीं करना है। हर नया विद्रोह हाल के पैदा बच्चे जैसा होता है जो बहुत-सी गंदगी में लिपटा हुआ धरती पर आता है। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। वही उसकी नियति है। इतना ही नहीं, यह भी कहना कठिन है कि किसी नये विद्रोह की अंतिम गति क्या होगी। सोवियत रूस चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर बैठता है। चीन अपनी तथा-कथित 'सांस्कृतिक क्रांति' के मरुस्थल में भटक रहा है। हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई यह नया हिन्दुस्तान हमको देती है, जो आज हमारी आँखों के सामने है! हम समझते हैं, ये मन को तोड़नेवाली चीजें हैं। लेकिन वह जो भी हो, अपने विद्रोह की पीठिका को समझने की, उसे लोगों तक पहुँचाने की, अपने अनुभव की निहाई पर रखकर अपने नये जीवन-मूल्यों को रूप देने की जरूरत फिर भी रह जाती है, क्योंकि उसके बिना कहीं नहीं पहुँचा जा सकता। अंधे, दिशाहीन विद्रोह का कोई भविष्य नहीं होता और न उसमें कोई स्थायित्व होता है। यहाँ तक कि लेखन के स्तर पर भी वह पल भर चमककर बुझ जाने-वाली फुलझड़ी बनकर रह जाता है। तभी तो कैलेंडर की तरह अब हर साल पीढ़ियाँ भी बदलने लगी हैं। 'विद्रोह के लिए विद्रोह' का नारा जिसने भी दिया हो, वह एक निरर्थक और भ्रामक नारा है। वैसी कोई चीज नहीं होती, और अंत में केवल कुंठा हाथ लगती है। जरूरत बस इस सत्य से आँख मिलाने की है कि आदमी की धातु में अच्छे-बुरे की जैसी मिलावट है, सीधी रेखा में उसका विकास

शायद संभव ही नहीं। पर उसके साथ ही साथ ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि इन भटकावों के कारण इतिहास के बढ़े हुए कदम फिर वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ से यात्रा शुरू हुई थी। नहीं, ऐसा नहीं होता। पिछली उपलब्धि का कुछ न कुछ मानवजाति के पास बच ही जाता है, और पाँव जो लौटते भी हैं तो पिछले पड़ाव से आगे किसी मुकाम पर जाकर रुकते हैं। आशा जो है, इसी में है, इसी से है।

अब पहली बात को लें। इससे कौन इन्कार करेगा कि हमारी वर्तमान आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ भयानक से भी ज्यादा भयानक हैं। ('संत्रास' पर लिखते समय हमने इस विषय पर जो कुछ लिखा था उससे कुछ बंधुओं को शायद ऐसा भ्रम हो गया है कि हम 'संत्रास' का विरोध करके इस बात को छिपाना चाहते हैं कि वर्तमान भारतीय जीवन कितना भयंकर और असह्य हो गया है, और कि प्रकारान्तर से हम उस सत्ता या एस्टैब्लिशमेंट की रक्षा करना चाहते हैं जो इस सबके लिए दायी है। नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। हमारा संपूर्ण विरोध उस अनाम-अरूप फैशनेबुल 'संत्रास' से है, और इसी-लिए है कि वह देश की विद्रोही चेतना को गलत रास्तों पर भटका ले जाता है जब कि समय की आवश्यकता उसे केन्द्रित करके किसी सार्थक विद्रोह की दिशा में लगाने की है।) शासकवर्ग दिशाहीन नहीं है, वह अपनी दिशा जानता है। पर वह जन-विरोधी दिशा है। विरोधी दल भी जनता की राजनीति भूलकर सत्ता की राजनीति में लगे हैं और इसीलिए आपस में ही टकराकर अपनी शक्ति को छिन्न-भिन्न किये डाल रहे हैं, जब कि जरूरत लोकहित में सबके साथ मिलकर शत्रु के दुर्ग पर आक्रमण करने की है। इन दोनों स्थितियों के चलते अवस्था दिनोंदिन खराब होती जाती है, छुटकारे का कहीं कोई रास्ता नजर नहीं आता। व्यक्ति का जीवन, समाज का जीवन, हर तरफ, हर स्तर पर, बुरी तरह टूट-फूट रहा है, और कोई बचानेवाला नहीं है। निश्चय ही यह सबसे पहले सामाजिक और राजनीतिक नेताओं के कर्म का क्षेत्र है। दुर्भाग्य से ऐसे सामाजिक और राजनीतिक नेता और कर्मी आज हमारे बीच नहीं हैं। ऐसे में, फिर, हम क्या करें, हम जो कहानीकार हैं, उपन्यासकार हैं, कवि हैं, विचारक हैं? छोड़ दें, अलग खड़े हो जायँ, देश को गिर जाने दें उस सर्वनाश के गड्ढे में? इसलिए कि हम तो साहित्यकार हैं, हमें राजनीति और समाजनीति से क्या प्रयोजन, उस पचड़े में पड़कर तो हम अपना अवमूल्यन ही करेंगे, हमें तो बस अपने सौंदर्यबोध से काम है और अपनी उस संकीर्ण सौंदर्यदृष्टि के आवर्त में पड़कर ऐसे साहित्य का सृजन करें जो प्रकारान्तर से इस सर्वनाश की प्रक्रिया को ही बल पहुँचाता हो?

हम ऐसा नहीं समझते। हम समझते हैं कि ऐसे ही दुष्काल में साहित्यकार को अपनी सबसे कठिन और सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ती है। जहाँ सब दिशाहारा हो रहे हों वहाँ देश को उसकी दिशा का बोध देना। जहाँ सब ओर मूल्यहीनता का बोलबाला हो वहाँ अपने कुछ नये जीवन-मूल्यों की सृष्टि करना जो देश के टूटते हुए मेरुदंड को थोड़ी-सी ताकत दे सकें। जहाँ व्यापक चरित्र-संकट हो वहाँ अपने चरित्रबल से और अपनी सृष्टि के चरित्रबल से नये कुछ मान प्रस्तुत कर सकना। देश ने अपने गंभीरतम संकट के समय सदा अपने साहित्यकार को ही पुकारा है। जब दूसरे सब दरवाज़े बंद मिले हैं उसने अपने साहित्यकार के दरवाज़े को ही खटखटाया है, यहाँ भी और संसार में कहीं भी। पश्चिम का 'नया' साहित्यशास्त्र साहित्यकार को उसकी यह सनातन भूमिका भुलवाना चाहता है, लेकिन साहित्यकार भले थोड़ी देर को भूल जाय, और वैसी ही अनिष्टकारी स्थिति उत्पन्न हो जैसी कि इस समय हमारे यहाँ उपस्थित है, देश नहीं भूलता और फिर-फिर पुकारता है, जब तक कि उसे सुननेवाला नहीं मिल जाता।

यह कहना गलत है कि हमें देश की अर्थनीति से, समाजनीति से, राजनीति से कोई प्रयोजन नहीं है। (राजनीति से बचने की बात करनेवाले अकसर साहित्य की धुरंधर राजनीति खेलते देखे जाते हैं जो कुछ कम कुत्सित चीज़ नहीं है।) अर्थनीति से अर्थनीति के रूप में, समाजनीति से समाजनीति के रूप में, राजनीति से राजनीति के रूप में हमारी दिलचस्पी भले न हो, लेकिन जिस अर्थ में उन सबका केन्द्र आदमी है, हमारी उनमें दिलचस्पी है और भरपूर है, क्योंकि हमारी पहली और आखिरी दिलचस्पी आदमी में होती है, और उन मूल्यों की सृष्टि में जिनके सहारे आदमी जीता है और मरता है। यह काम सदा साहित्यकार के ही करने का रहा है और उसी ने किया है। इसीलिए, आज के विद्रोह के संदर्भ में भी मूल्यों की बात करना ज़रूरी है, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

सार्थक विद्रोह की दिशा

पुराने ढंग से चली आती हुई जीवन-व्यवस्था जिस बिन्दु पर पहुँचकर अचल हो जाती है वही विद्रोह का बिन्दु होता है, और वहीं से उसकी कसमसाहट शुरू हो जाती है, भले देश को अपनी सही दिशा पहचानने में थोड़ा समय लगे।

हम आज ठीक उसी बिन्दु पर खड़े हैं। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सभी स्तरों पर एक जैसी अचलता की स्थिति है — और जहाँ गति ही जीवन का सहज गुण हो वहाँ अचलता का अर्थ प्रकारान्तर से पीछे लौटना ही हो सकता है। वही गिरावट आज चारों तरफ दिखायी दे रही है।

शुद्ध साहित्यवादी दृष्टि यहाँ पर एक प्रश्न उठा सकती है — आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रश्नों से हमें क्या लेना-देना है, उनकी चिन्ता वे करें जिनका वह क्षेत्र हो, हमारा क्षेत्र तो संस्कृति है, करना हो तो उसकी बात कीजिए, बाकी सब चीज़ें हमारे लिए अवान्तर हैं, उनके महत्व से हमें इन्कार नहीं, पर वे हमारे क्षेत्र से बाहर पड़ती हैं।

हमारी समझ में कुछ भी साहित्य के क्षेत्र से बाहर नहीं है। 'साहित्य' का अर्थ ही है 'साथ-साथ रहने का भाव'। वह शब्द और अर्थ का साथ-साथ रहना भी है और आदमी और आदमी का साथ-साथ रहना भी है। साहित्यकार को उसके शब्द और अर्थ भी समाज से ही मिलते हैं। वस्तुतः 'साहित्य' का एक अर्थ समाज भी है। इस प्रकार सामाजिकता साहित्य का आरोपित नहीं, सहज और जन्मजात गुण है। संपूर्ण जीवन साहित्य का क्षेत्र है, क्योंकि सबके केन्द्र में आदमी है, और आदमी जैसा है वह अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश के भीतर है; उन्हीं के समन्वित प्रभाव से उसके जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ भी बनती हैं और उसका मन भी बनता है। वही सब तो साहित्य का क्षेत्र है। उनसे अलग साहित्य का और कौन-सा क्षेत्र है? जहाँ साहित्यकार यह समझता है कि उसके साहित्य के सब रास्ते उसके मन की गलियों से ही फूटते हैं और उन्हीं में जाकर समाप्त हो जाते हैं, वहीं पर भटकाव है क्योंकि साहित्यकार ने वहाँ पर पहले ही अपने को ऐसी

स्थिति में रख लिया है जो कि उसकी सहज स्थिति नहीं है; उसकी सहज स्थिति आदमियों के बीच एक आदमी की है।

अतः यह उचित है कि हम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक, सभी स्तरों पर विचार करें, और इसी क्रम से उन पर विचार करें, क्योंकि यह एक जानी-मानी बात है कि इन सबमें प्राथमिकता आर्थिक स्थितियों की है; वही आधार है जिस पर बाकी सब इमारतें खड़ी होती हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि यह ऐसा कोई विभाजन है जिसमें एक को दूसरे से कोई मतलब नहीं है। उनके अन्तस्संबंध में ही उन्हें ठीक से समझा जा सकता है। इसके अलावा यह भी है कि आदमी के विचार अर्थतंत्र पर आधारित होते हुए, एक बार पैदा हो जाने पर अपना स्वतंत्र जीवन भी रखते हैं, स्वयंचालित भी होते हैं, यहाँ तक कि अपने आधारभूत अर्थतंत्र को भी प्रभावित करने लगते हैं।

जो हो, विचार करते समय इतनी सतर्कता बरती जाय तो यह बात निरापद रूप से कही जा सकती है कि समाज का अर्थतंत्र प्राथमिक महत्व की चीज है और किसी भी छोटे या बड़े विवर्तन या विद्रोह की चर्चा करते समय सबसे पहले उसी की चर्चा होनी चाहिए।

देश की आर्थिक स्थिति इस समय जैसी है उसके संबंध में अधिक कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। हम सभी उसको भुगत रहे हैं। मुट्ठी भर बड़े पूँजीपतियों के हाथ में देश की अस्सी-नब्बे प्रतिशत संपत्ति केन्द्रित हो गयी है (जिसमें से चालीस प्रतिशत तो कुल एक सौ एक दैत्याकार कंपनियों के हाथ में!) और देश की शासनसत्ता उनके हाथ का खिलौना है। जिस करवट उठाते हैं उस करवट उठती है, जिस करवट बिठाते हैं उस करवट बैठती है। जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए बातें समाजवाद और समाजवादी ढाँचे की की जाती हैं, लेकिन निर्मम सच्चाई यह है कि वे सब कोरी बातें हैं, देश के अर्थतंत्र पर एकछत्र स्वामित्व इन्हीं बड़े पूँजीपतियों का है और वे ही देश की अर्थनीति के संचालक और अधिनायक हैं। इसके अनेक संकेत जब-तब मिलते रहते हैं, जिनके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं। महलानवीस कमेटी की रिपोर्ट और हजारी रिपोर्ट के किस्से सबके सामने हैं, और आजकल फिर चंद्रशेखर का किस्सा हमारी आँखों के सामने हो रहा है।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा कि विदेशी और भारतीय अर्थशास्त्रियों के अनुमान से चार-पाँच हजार करोड़ रुपया (ब्लैक

मनी, जिसका किसी रसीद-बही में कहीं उल्लेख नहीं है) हर समय बाजार में डोलता रहता है। हम अर्थशास्त्र ज्यादा नहीं समझते लेकिन यह तो बहुत मोटी सी बात है कि जहाँ इतनी विराट् धनराशि बाजार में छुट्टा घूम रही है और कहीं न कहीं लगकर एक के चार बनाने के लिए घूम रही है वह कुछ भी अनर्थ कर सकती है और जितना अनर्थ करे उतना ही कम है। कौन जाने आये दिन जो एक न एक चीज कुछ दिनों या हफ्तों या महीनों के लिए बाजार से गायब हो जाती है और फिर चढ़े हुए दामों पर चोरी-चोरी बिकने लगती है और फिर एक रोज अपने उसी चढ़े हुए दाम पर खुलेआम बाजार में बिकने लगती है, कभी सायकिल के टायर तो कभी कोई शेविंग क्रीम तो कभी डालडा तो कभी और कुछ, उसका भी रहस्य संभवतः पूँजी के इसी आस्फालन में मिल जाय। उसकी रोकथाम के लिए भी अर्थशास्त्रियों ने समय-समय पर अनेक उपाय सुझाये, लेकिन उनमें से कोई शासकवर्ग को स्वीकार नहीं हुआ। पहले तो शासनसत्ता इस बात को ढाँकने-तोपने की भी कोशिश करती थी कि उसका इन बड़े पूँजीपतियों से कुछ भी नाता है, अब तो काफी निर्लज्ज रूप में उघड़-कर वह सामने आ गयी है। जो अस्वाभाविक भी नहीं है। जब कोई शासकवर्ग अपनी जनविरोधी नीतियों के कारण जनता से कटकर अधिकाधिक इन्हीं पूँजी-पतियों का सहारा लेने लग जाता है, सबसे पहले तो इसीलिए कि वह उनका चुनाव लड़कर उन्हें शासन की गद्दी पर ला बिठाये, तब वह अपने उन्हीं सहायकों का विरोध करे भी तो कैसे ?

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि इन पूँजीपतियों का सहारा लेने के सिवा देश के सामने और उपाय भी क्या है, क्योंकि उनके उद्योग-धंधे तो फिर भी कुछ ढंग से चलते हैं, कुछ काम करके दिखाते हैं, पबलिक सेक्टर के सरकारी काम-धंधे का हाल तो बिलकुल ही बंटाढार है, वह तो सफेद हाथी हैं जो गोया किसी बड़े जमींदार के दरवाजे पर शान-शौकत के लिए बँधे हुए हैं, जो खाते ढेरों हैं और करके कुछ भी नहीं देते। शायद ही पबलिक सेक्टर का कोई काम हो जो अपना खर्च भी निकाल पाता हो। प्रायः सभी घाटे पर चल रहे हैं। करोड़ों-अरबों रुपया उनमें लगा हुआ है और काम दो पैसे का नहीं। अफसरान बस बड़ी-बड़ी तनख्वाहें और भत्ते लेने के लिए और बीस तरीके से पैसा बनाने के लिए हैं।

इस बात में बहुत बड़ी सच्चाई है। लेकिन इस संबंध में हमारा इतना ही निवेदन है कि इससे ऐसा कोई निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि पबलिक सेक्टर की यही अनिवार्य नियति होती है। पबलिक सेक्टर अकेले हमारे यहाँ

नहीं है, दुनिया के और भी तमाम देशों में है, समाजवादी और गैर-समाजवादी दोनों ही, और ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि सबका अनुभव वैसा ही है, जैसा कि हमारा। यह भूलने की चीज़ नहीं है कि शासनतंत्र किसका है, कैसा है। अगर वह भ्रष्ट है तो उसके अन्तर्गत सभी कुछ भ्रष्ट होने के लिए बाध्य है, और वह अच्छा है, ठीक है, तो उसके प्रभावक्षेत्र की हर चीज ठीक रास्ता पकड़ने लगती है। हम यह मानने से इन्कार करते हैं कि हिन्दोस्तानी दुनिया के सबसे जाहिल या सबसे बेईमान लोग हैं और कोई भी काम जिम्मेदारी से नहीं कर सकते, जब तक कि उनके सर पर डंडे बरसानेवाला न हो। इसका तो मतलब होगा कि हम यह मान लें कि हमको आजादी मिली तो गलत मिली और अंग्रेजों का हमारे सर पर बैठा रहना ही ठीक था क्योंकि वही हमसे काम ले सकते थे, क्योंकि हम गुलाम रहकर ही काम करना जानते हैं! हमारी मान्यता है कि हिन्दोस्तानी दुनिया की किसी भी कौम के लोगों से न तो कम समझदार हैं और न कम ईमानदार हैं और न कम मेहनती हैं। गड़बड़ी वहाँ शुरू होती है जहाँ अच्छे काम का सिला नहीं मिलता और बेईमानों और काम-चोरों और चालबाजों की पाँचों घी में होती है। जब ऐसी स्थितियाँ क्रॉनिक हो जाती हैं तब समाज के मूल्य बदलने लगते हैं और बेईमानी को ऊपर चढ़ने की अकेली सीढ़ी समझा जाने लगता है, और उस तरह का चरित्र-संकट देश के सामने आ खड़ा होता है जिसका हम लोग आये दिन रोना रोते रहते हैं, और खासकर हमारे बड़े नेता लोग, शायद जिनमें ही यह चरित्र-संकट सबसे अधिक मात्रा में देखा जा सकता है और जिनको ही देखकर साधारण लोग अपनी आचार-संहिता बनाते हैं, क्योंकि आचरण के नियमों का यह स्वभाव है कि वे कभी नीचे से ऊपर की ओर नहीं, ऊपर से नीचे की ओर; छोटे से बड़े की ओर नहीं, बड़े से छोटे की ओर चलते हैं। जिस समाज में सत् को दंडित और असत् को पुरस्कृत किया जाता हो वहाँ ये सब आचार के मूल्य अगर उलट-पलट जायें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि ऊपर के लोग अगर ठीक हो जायें और न्यायपूर्वक शासन करें तो स्थितियाँ बहुत जल्दी ठीक हो सकती हैं। कहने का आशय यह कि हम आज के अपने राष्ट्रीय जीवन की बुराइयों का सरल समाधान भारतीय जनता के चारित्रिक दोष में नहीं, सबसे पहले आज की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक नीतियों में देखते हैं।

देश के अर्थतंत्र पर मुट्ठी भर बड़े पूँजीपतियों का एकछत्र स्वामित्व है — निश्चय ही यह एक अर्थशास्त्रीय स्थापना है और अगर किसी कवि या कहानी-

कार की रुचि इन विषयों में नहीं है तो उसे सीधे-सीधे इससे प्रयोजन या इसका बोध नहीं भी हो सकता। लेकिन जब यही अर्थव्यवस्था सामाजिक जीवन को प्रभावित, यहाँ तक कि नियमित, करने लगती है और व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध और उनके नैतिक मूल्य उसके द्वारा संचालित-परिचालित होने लगते हैं, तब फिर वह इस ओर से उदासीन नहीं रह सकता और वह चाहे या न चाहे उसे इस प्रश्न में भी रुचि लेनी ही होगी; अपने सत्य की खोज में, अपने स्वप्न की खोज में, अपने सार्थक जीवन-मूल्यों की खोज में जैसे और सब गुहा-कंदराओं में वैसे ही इस कंदरा में भी धँसना ही पड़ेगा — अगर वह अपने मनमाने अर्द्धसत्यों से ही संतुष्ट होकर नहीं बैठ रहना चाहता और चाहता है कि सप्रमाण ढंग से चीजों की जड़ तक पहुँचे। मिसाल के लिए आप अपने बागीचे में बड़ी अच्छी किस्म के कुछ गुलाब लगाते हैं। कुछ दिन सब बहुत अच्छी तरह चलते हैं फिर उनमें दीमक और दूसरे बहुत से कीड़े लग जाते हैं और वे सभी गुलाब नष्ट हो जाते हैं। आप फिर कुछ नये गुलाब लगाते हैं और आगे-पीछे उनका भी वही हश्र होता है। आप तब भी हिम्मत नहीं हारते और फिर तीसरी बार, और चौथी बार और पाँचवीं बार नये गुलाब रोपते हैं लेकिन हर बार नतीजा वही होता है। ऐसी हालत में आपके सामने दो ही रास्ते बच जाते हैं — या तो इसी को अपनी और उन गुलाबों की नियति मान लें और फिर उन सूखे और मुर्झाये हुए गुलाबों को लेकर काव्य और दर्शन के गुल-बूटे तराशें या एक बार, कम से कम एक बार, उस धरती की जाँच करें, कहीं उसमें तो कोई खोट नहीं है, उसको उलटने-पलटने से, उसकी दवा-दारू करने से तो काम नहीं बन सकता। अगर बात आपकी समझ में आ गयी और आपने धरती को उलटा-पलटा, क्यारियाँ बनाते वक्त उसमें कुछ कीटाणुनाशक दवाएँ डालीं, फिर नये सिरे से अपने गुलाब रोपे, और फिर उनके बढ़ने-पनपने पर बराबर अपनी नजर रखते हुए कीड़े-मकोड़ों से उनका बचाव करते रहे तो आप देखेंगे कि आपके गुलाबों की रक्षा हो जाती है, पूरी नहीं तो बहुत हद तक हो जाती है। यह ठीक है कि इस सब कारंवाई में लगे रहने के वक्त आपकी स्थिति उस सौन्दर्यरसिक की नहीं होती जो गुलाब हाथ में लेकर उसके रंग-रूप की बारीकियाँ परखता है और अलग-अलग कोणों से उसे देखकर निहाल हो हो जाता है; उस समय आप माली होते हैं या अपने पौदों के डाक्टर होते हैं, लेकिन अगर आप सचमुच अपने गुलाबों को प्यार करते हैं तो इस काम से भी आपको खुशी हासिल होती है क्योंकि वह भी आपके गुलाब का ही काम है, उसके बगैर आपका मनभाता गुलाब आपके हाथ में ही कहाँ से आयेगा कि आप उसकी शोभा निरख सकें।

हम समझते हैं कि अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का सौन्दर्यशास्त्र से कुछ इसी प्रकार का संबंध है। और साहित्य इसी अर्थ में साहित्य होता है कि वह इन सभी को सजीव रूप से अपने भीतर समेटकर चलता है इसीलिए कि वह उन्हें उनके अन्तस्संबंध में, अंगांगि संबंध में, एक-दूसरे के साथ जोड़कर देख पाता है; वही साहित्य का बृहत्तर परिप्रेक्ष्य है। जिस साहित्य के पास यह परिप्रेक्ष्य नहीं होता वह उतना ही छोटा और अल्पजीवी होता है।

आइए अब हम ठोस तरीके से देखें कि हमारी यह अर्थव्यवस्था कैसे हमारे साहित्य को प्रभावित करती है और कैसे साहित्यकार के नाते हमारे लिए उसका गहरा बोध आवश्यक है अगर हम चीज़ों को उनके सही नाम से जानना और पुकारना चाहते हैं और चाहते हैं कि हमारे साहित्य में हमारे युग का प्रामाणिक चित्र उभरकर सामने आये।

इसके अनन्त स्तर हैं और हर स्तर पर उतने ही अनंत रूप हैं। हम उनमें से कुछ की ओर संकेत भर कर सकते हैं। सबसे पहले तो अर्थ का अभाव। बहुत थोड़े से लोगों के हाथ में देश का धन जाकर केन्द्रित हो गया है और अधिकांश जनसमाज क्रॉनिक अभाव की स्थिति में जीवन-यापन करता है। रहने के लिए ढंग का घर नहीं है। पहनने के लिए ढंग के कपड़े नहीं हैं। साधारणतः शिक्षा का अभाव है और जो शिक्षित हैं भी उनके लिए काम का अभाव है। यह आकस्मिक बात नहीं है कि हमारे पास हर महीने जो सैकड़ों कहानियाँ आती हैं उनमें इतनी बहुत-सी कहानियों पर इसी अर्थाभाव की छाया रहती है। उदाहरण के लिए एक बिलकुल ही नये लेखक स्वदेश दीपक की कहानी 'पराया चेहरा' जो बहुत पसंद की गयी। घरवाले जवान बेटी की शादी नहीं करते, वह अपने शरीर और मन की तमाम भूख को लिये हुए बुढ़ाती जा रही है लेकिन घरवाले उसकी शादी नहीं करते या नहीं होने देते क्योंकि वह कमाऊ है और उसकी शादी का मतलब होगा कि वह कमानेवाला अपने घर से बाहर चला जायेगा। या इब्राहीम शरीफ की कहानी 'डर' जिसमें एक नौजवान के सर पर यह भूत सवार रहता है कि उसकी कमीज मैली है और तमाम लोग उसी को देख रहे हैं और उसकी खिल्ली उड़ारहे हैं — जो और कुछ नहीं केवल एक अभावजन्य हीनता की ग्रन्थि है। या प्रमोद सिनहा की कहानी 'अजनबी रेगिस्तान' जिसमें एक नौजवान नौकरी की तलाश में इधर से उधर टक्करें खाता फिर रहा है लेकिन उसे नौकरी नहीं मिलती। फिर जो कुछ उसके दिल पर गुजरती है और घर के अंदर सब लोग जिन नजरों से उसको देखते हैं, जिस तरह सबकी नजरें बचाता हुआ वह यहाँ-वहाँ दुबकता फिरता है, उसी की

कहानी है। या त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव की 'जिन्दगी'। छोटा-सा घर है जिसमें माँ-बाप भाई-बहन समेत एक नौजवान रहता है। घर में इतनी भी जगह नहीं है कि घर का यह कमाऊ पूत अपनी बीवी के साथ चैन से और बेधड़क रात भर सो सके। लिहाजा फिर मियाँ-बीवी बाहर होटल के कमरे में मिलने की जुगत करते हैं। ऐसी ही और तमाम बेशुमार कहानियाँ हैं जिनमें एक न एक अभाव की ही भूमि से प्रत्यक्ष जीवन के स्तर पर और मन के भीतर तरह-तरह की गलियाँ फूटती हैं।

इसी के साथ फिर जोड़ दीजिए हमारे सामाजिक जीवन के उस अनेकस्तरीय भ्रष्टाचार को जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को नितान्त खोखला कर रखा है, और हमारे वर्तमान आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक जीवन का काफी भरा-पूरा चित्र खड़ा हो जाता है। इस भ्रष्टाचार की जड़ें जहाँ सदियों की गुलामी में हैं (गुलाम के लिए जीवन-धारण, जीवन-यापन, से बड़ी कोई नैतिकता नहीं होती) वहाँ इस महाजनी अर्थव्यवस्था में भी उतनी ही हैं जो अपने बनिज-व्यापार के लिए संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन को, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक सभी स्तरों पर, अधिकाधिक भ्रष्ट करती चली जाती है, क्योंकि उसके सामने राष्ट्र-निर्माण का कोई लक्ष्य नहीं होता; उसका एकमात्र लक्ष्य होता है अपना मुनाफ़ा और उसके लिए वह अपने पैसे के जोर से सभी को दूसरी सब चीजों की तरह ख़रीदता-बेचता रहता है। लेकिन हमारे कहने का यह मतलब न लिया जाय कि संसार के सभी महाजनी देशों में हमारे देश जैसी ही दुर्व्यवस्था है। कदापि नहीं, और वह इसलिए कि वहाँ पर उस महाजन के मुँह में एक सचेत और स्वाधीन और अपनी शक्ति से परिचित जनता ने लगाम लगा रखी है और उस महाजन के पास अपने भी कुछ न्यूनतम नैतिक मान हैं जिनके भीतर रहकर ही काम करने का उसे अभ्यास है; छुट्टा घूमने और जो मनचाहे करने की ऐसी दिव्य 'स्वाधीनता' वहाँ अब है ही नहीं। रही होगी, जब रही होगी, अब तो सामाजिक नियंत्रण सक्रिय रूप से काम करते हैं। जिस तरह से बड़े-बड़े महाजन यहाँ विधायकों तक को खरीदकर अपनी जेब में रख लेते हैं, वह स्थिति अब शायद दुनिया के इक्का-दुक्का देशों में ही मिलती है — उन्नत देशों में इसलिए नहीं कि जनता सचेत है और संगठित है और अनुन्नत देशों में इसलिए नहीं कि उनके यहाँ बड़ी पूँजी का अभी विकास ही नहीं हुआ। हम समझते हैं कि इस मामले में हिन्दुस्तान सारी दुनिया में अपने ढंग की एक अकेली मिसाल है।

आज के इस व्यापक भ्रष्टाचार को सदियों से चली आती हुई गुलाम मनो-वृत्तियों से (जिनके कटने का सुयोग देश के स्वाधीन होने पर उत्पन्न हुआ था

लेकिन जो बहुत कारगर न हो सका क्योंकि वह स्वाधीनता साधारण जनता तक तो पहुँचने ही नहीं पायी, बीच में ही कुछ थोड़े से लोगों ने उसको लोक-कर अपने काम में लगा लिया और विदेशी गुलामी की जगह देशी गुलामी का दौर शुरू हो गया जिसमें साधारण जनता के लिए स्वाधीनता का अर्थ केवल इतना रह गया कि जहाँ बड़े लोग अपनी नोच-खसोट में लगे हैं वहाँ वह भी अपने कुछ टुकड़े बीन ले) और आज की अर्थव्यवस्था से जोड़कर हम यही दिखाना चाहते हैं कि इसके भी कुछ सामाजिक कारण हैं और इन्हें लेकर जो एक तरह का दर्शन या छद्म-दर्शन बुनने की कोशिश की जाती है वह भटकाने-वाली है।

और हम इसको भी आकस्मिक नहीं मानते कि ऐसी सब कोशिशों को अत्यंत शक्तिसंपन्न महाजनी पत्र-श्रृंखलाओं का आशीर्वाद प्राप्त होता है। बहुत बार देखा जाता है कि चालाक चोर सड़क पर आकर खुद ही 'चोर-चोर' चिल्लाने लगता है। लोग उसकी बतायी दिशा में दौड़ पड़ते हैं और वह अपनी मूँछों में हँसता हुआ ख़रामा-ख़रामा अपने रास्ते चला जाता है। जिस अर्थ-व्यवस्था को सबसे पहले मुजरिम के कठघरे में खड़ा करने की जरूरत है, उसकी तरफ से लोगों का ध्यान हटाकर अगर मनुष्य की सनातन विकृतियों को वहाँ पर खड़ा किया जा सके तो इससे बढ़कर बात और क्या हो सकती है? विद्रोह को भटकाने के लिए इससे अच्छी युक्ति और क्या है? खूब बातें कीजिए विद्रोह की लेकिन किसके ख़िलाफ़ और कैसे यह हरगिज़ न खुलने पाये। वैसे ही निर-र्थक विद्रोह की आज नये लेखकों के बीच खूब चर्चा है — लेकिन उसका उद्देश्य, लक्ष्य, सब कुछ अँधेरे में है और किसी को उसका हाल नहीं मालूम। सच पूछिए तो हम को भी नहीं मालूम लेकिन अपने आले तो ठीक हों, अपनी दृष्टि तो ठीक दिशा में पड़े। उसी में से कौन जाने अपना रास्ता भी, सार्थक विद्रोह का, हमें मिल जाय। लेकिन अगर देखना कहीं है और हम देख रहे हैं कहीं तो किसी दिन कोई सार्थक विद्रोह नहीं हो सकेगा। और विद्रोह के नाम पर जो चीज हमारे हाथ आयेगी वह संभव है बिलकुल ही प्रतिगामी चीज हो जो प्रकारान्तर से उन शक्तियों को ही बल पहुँचाती हो जिनको अपदस्थ किये बिना कोई सार्थक प्रगति संभव नहीं है।

यौन विद्रोह का, सामाजिक उच्छृंखलता का, दिशाहीन तोड़फोड़ का झंडा फहराता हुआ जो एक बहुरूपिया आंदोलन इस समय हमारे साहित्य में चल रहा है, वह इसी तरह का एक भटकाव है। पहली चोट इस महाजनी अर्थतंत्र पर किये बिना कहीं कुछ भी नहीं बदला जा सकता, उसी की गोजर जैसी टाँगें

सब तरफ फैली हुई हैं और अनेक रूपों में, अनेक स्तरों पर, हमारे जीवन को प्रभावित कर रही हैं। उसी की बरकत है कि नाम समाजवाद का है (गौर करने की बात है कि इस बार कांग्रेस के अध्यक्ष निजलिंगप्पा के अभिभाषण में एक बार भी समाजवाद का नाम नहीं आया, और कांग्रेस के भीतर का नया खून जिस तरह समाजवाद को कार्यरूप में परिणत करने पर जोर दे रहा है, उसके संदर्भ में अब जोर-शोर से ये बातें होने लगी हैं कि ऐसे लोगों को कांग्रेस में से छाँट दिया जाय !) और मुट्ठी भर महाजनों की ताकत दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है; साधारण जनता गरीब से और गरीब होती जा रही है, और अमीर लोग और भी अमीर होते जा रहे हैं।

एक ओर अभावों का नंगा नाच है, दूसरी ओर अतिरिक्त धन और अतिरिक्त अवकाश का नंगा नाच है, तीसरी ओर उन दोनों के बीच की इन भयंकर दूरियों का नंगा नाच है, और चौथी ओर इसी अर्थतंत्र में से निकलनेवाले जीवन-मूल्यों का नंगा नाच है।

अभावों के नंगे नाच के बारे में किसी को ज्यादा कुछ बतलाने की जरूरत नहीं है। सब भोग रहे हैं और अच्छी तरह उसका हाल जानते हैं। लोग हँसना भूल गये हैं और जब हँसते भी हैं तो लगता है कि जैसे खुद को मुँह चिढ़ा रहे हों या अपना सामाजिक दायित्व निभा रहे हों, क्योंकि वह हँसी भीतर की खुशी में से नहीं फूटती बल्कि शायद सिर्फ एक मुखौटा है। सड़क पर निकल जाइए, एक अच्छा खाया-पिया सजीला बदन देखने को नहीं मिलता। लोगों की सारी उम्र, सुबह से लेकर शाम तक, तेली के बैल की तरह चक्कर काटते हुए, बस पेट भरने का उपाय करने में ही बीत जाती है। कोई दिन न जाता होगा कि आत्म-हत्या से दो-चार लोग न मरते हों, कोई जहर खाकर, कोई फाँसी लगाकर, कोई रेल की पटरी पर सोकर, कोई कुएँ में कूदकर। अक्सर तो पूरे के पूरे कुनबे का सफाया हो जाता है। बड़ी गनीमत है कि हमारे यहाँ इस तरह के आँकड़े नहीं इकट्ठा किये जाते कि कितने लोग इस तरह से जान देते हैं, और कितने लोग हर साल धूप और लू से मरते हैं क्योंकि उनके सर पर छाँह नहीं थी, या जाड़ों में सर्दी से ठिठुरकर मरते हैं क्योंकि उनके बदन पर कपड़ा नहीं था, और कितनी औरतें हैं जिन्हें दलाल बहला-फुसलाकर, उड़ाकर, खरीदकर अपने चकले आबाद करने के लिए ले जाते हैं, इसीलिए कि उन औरतों के पास अपना पेट पालने का दूसरा कोई उपाय नहीं था।

किसी साधारण अच्छे पढ़े-लिखे गृहस्थ से बात करके देखिए, उसने कुछ भी सोचने-विचारने से नाता तोड़ लिया है। अजीब अवास्तविक सी (शायद

इसीलिए कि अतिवास्तविक !) एक दुनिया है जिसमें वह रहता है, कि जैसे किसी माया-चक्र में डाल दिया गया हो जिसमें वह निरुपाय फिरता रहता है, ताकि अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पाल सके, बस, और कुछ नहीं चाहिए, इत्यलम् ! कला-संस्कृति से उसका इतना ही नाता है कि जब-तब बंबइया फिल्म देख लेता है जो उसके घाव पर मरहम भले न रक्खे, थोड़ी देर को एक ठंडा फाहा जरूर रख देती है, आँखों में कुछ रंग-बिरंगे सपने जरूर आँज देती है, यथार्थ की झुलझा देने वाली गर्मी से भागकर थोड़ी देर तरी का मजा जरूर पा लेने देती है — शुद्ध एस्केप फ़िल्म। भागो, भागो, कहीं भागो, इस दिन-रात की हाय-हाय से, किचकिच से। जी बहला लो, थोड़ी देर को, जैसे-तैसे, और फिर जुत जाओ अपने उसी कोल्हू में (और कोई तेल निकले न निकले अपना तेल तो निकल ही आता है !) और मालिक जो रूखा-सूखा डाल दे उसी में खुश रहो।

उधर अतिरिक्त धन और अतिरिक्त अवकाश का नंगा नाच भी कुछ कम भयानक नहीं है। थोड़ी-सी जोड़-तोड़ बैठाने से, खातिर-तवाजो करने से बहुत सा पैसा घर में आता हो, और अटूट पैसा बैंक में भरा हो, और घर के एक-एक लड़के को जेब-खर्च के लिए (धंधे में ही उसका वेतन बाँधकर) चार-चार और छ-छ हजार रुपया (और कहीं-कहीं इससे भी ज्यादा) हर महीने मिलता हो तो फिर उसी तरह अंधाधुंध वह फुँकता भी है—शराबों पर, लड़कियों पर, मोटरों पर, झूठी शान-शौकत पर, तफरीह के नाम पर की जानेवाली तरह-तरह की बदकारियों पर, — और फिर जहाँ इतना ढेरों रुपया सिर्फ लुटने के लिए बाजार में फिर रहा हो, वहाँ फिर इन चीजों की भी एक अच्छी खासी 'इंडस्ट्री' खड़ी हो जाती है — इसलिए भी कि यह सब खेल अभावों के परिवेश में होता है, जहाँ ढेरों आदमी और ढेरों लड़कियाँ बिकने के लिए डोल रही हैं, कुछ तो अपना पेट पालने के लिए और कुछ थोड़े से पैसे फाजिल बना लेने के लिए ताकि वे अपने रख-रखाव पर कुछ खर्च कर सकें और अच्छे लोगों में, ऊँची सोसाइटी के लोगों में अपनी गिनती करा सकें।

और यहीं से वह चीज शुरू होती है जिसे हमने मूल्यों का नंगा नाच कहा है। सेठ पर्दे के पीछे बैठा-बैठा अपनी व्यक्त-अव्यक्त डोरियाँ खींचता रहता है और तरह-तरह की आवाजें निकलती रहती हैं।

आदमी और आदमी के बीच केवल व्यापार का, पैसे का, संबंध होता है। व्यापार ही एकमात्र सत्य है। हर चीज का मोल है और हर चीज खरीदी-बेची जाती है — हल्दी-धनिया से लेकर आदमी की आत्मा और विवेक तक। व्यापार

एक निर्मम लड़ाई का नाम है जिसमें कोई किसी के साथ मुरौवत नहीं कर सकता। न करता है और न उसे करना चाहिए — वर्ना मारा जायेगा। पैसा बटोरो, जैसे भी बटोर सको, जाल-बट्टे से, धोखे-फरेब से, चोरी-डकैती से, सब रवा है, कोई तुमसे पूछने नहीं आयेगा कि यह रुपया तुमने कहाँ से और कैसे पाया, रुपये के होने से बड़ा और कोई सत्य नहीं है। झूठ-सच के चक्कर में मत पड़ो, बड़े-बड़े दार्शनिक भी उसका अंत नहीं पा सके, तुम किस खेत की मूली हो। जो प्रत्यक्ष सत्य है उसी को सच जानो : समाज में प्रतिष्ठा धन और एक-मात्र धन से मिलती है। इस लड़ाई में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। यही दुनिया का दस्तूर है। इसलिए तुम बड़ी मछली बनो ताकि तुम औरों को खा सको। व्यापार को नैतिकता से कुछ नहीं लेना-देना, दोनों दो अलग चीजें हैं, जिसने दोनों को गडमड किया उसकी शामत आयी। नैतिकता भगवान् के साथ हमारे संबंध की बात है, उसको हमें उस स्तर पर समझना है। उसके लिए हमें जितना घंटा-घड़ियाल बजाना होगा हम बजा लेंगे। व्यापार में हम उसे कोई दखल नहीं देने देंगे। सारे विधि-निषेध झूठे हैं। उनसे मुक्त-निर्द्वंद्व होकर ही यह लड़ाई लड़ी जा सकती है। यह लड़ाई जिसमें हर आदमी अकेला है और कहीं से किसी सद्भावना या मैत्री या बंधुत्व की आशा नहीं कर सकता। इसकी कल्पना ही निस्सार है। ऐसी कोई चीज नहीं होती। यहाँ कुत्ता कुत्ते को खा जाता है ...

इसी के साथ जुड़ा हुआ है नारी के प्रति उसका दृष्टिकोण, वही सामंती, मध्ययुगीन दृष्टिकोण (बहुत कुछ तो इस महाजनी अर्थतंत्र में उसी सामंती मध्ययुग का है जिसमें अंदर की चीज कुछ खास नहीं बदलती है, जो कुछ बदलाव है वह ऊपरी टीमटाम में) — कि औरत मर्द के पैर की जूती है, वह कभी मर्द की बराबरी नहीं कर सकती, वह मर्द के खेलने की चीज है, इसी में उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता है, आदमी जब बाहर की अपनी लड़ाइयों से थककर लौटे तो उसे घर में कोई ऐसा चाहिए जो उसकी थकान को दूर कर सके, उसका जी बहला सके, उसके साथ बिस्तर में सोकर उसे अगले दिन की लड़ाइयों के लिए तरोताजा कर सके। किसी का काम एक औरत या दो-चार औरतों से चल जाता है, कोई लंबे-चौड़े अंतःपुर और हरम बनाकर रखता है, मसरफ बहरहाल औरत का एक ही है।

और निर्धनता व अतिरिक्त धनाढ्यता के दो छोरों के बीच जो भयानक दूरी है उसका नंगा नाच दिखायी पड़ता है रोज-ब-रोज बढ़ती हुई चोरी-डाके-खून की घटनाओं में।

कोई समाजशास्त्री अगर अर्थतंत्र से अलग करके इस समस्या पर विचार करे तो इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि ये प्रवृत्तियाँ आदमी के सहज स्वभाव का अंग हैं। लेकिन फिर जब हम ऐसे समाजों को देखते हैं जिनमें इन विषमताओं को मिटा दिया गया है या कम कर दिया गया है तो हम पाते हैं कि वहाँ पर यह सब कुछ भी नहीं है, इतना कम है कि न होने के बराबर है। जिसका मतलब यह नहीं है कि उनकी अपनी कुछ समस्याएँ नहीं हैं, लेकिन वह एक अलग बात है। परफेक्ट समाज तो कहीं नहीं है और शायद आदमी को कभी हासिल भी नहीं होगा (अब इसे आप चाहे उसकी स्थिति का अभिशाप समझें और चाहे वरदान, समझने को दोनों ही समझ सकते हैं) लेकिन आदमी की तमाम कोशिश उसी के लिए है, उसी की दिशा में है। जो हो, अगर यह बात सच है कि एक समाज में एक तरह की बुराई मिलती है और दूसरी में नहीं मिलती तो उसके कारणों की खोज उस अर्थ-तंत्र और समाज-तंत्र में ही करना संगत है न कि उसे आदमी के तथाकथित 'सहज स्वभाव' के खाते डालकर छुट्टी पा लेना।

उसी तरह जब हमारा यह नया 'विद्रोही' समग्र परिप्रेक्ष्य की ठीक दृष्टि न रखने के कारण (और उसकी जरूरत को भी न समझने या झुठलाने के कारण) आदमी और आदमी के संबंध को लेकर, व्यक्ति और समाज के संबंध को लेकर, मनुष्य के समस्त महत् मूल्यों को नकारते हुए कोरी निषेधात्मक बातें करने लगता है तो ऊपर से देखने में वे कितनी ही विद्रोही क्यों न जान पड़ें, वस्तुतः बिलकुल प्रतिगामी होती हैं और वह इस बात को जाने या न जाने वह उन्हीं महाजनी मूल्यों को दुहरा रहा होता है जिन्हें उसने उसी महाजनी समाज से और उसके विराट् प्रचारयंत्र से पाया है — और सच मान बैठता है क्योंकि वह अपने उस परिवेश के बाहर नहीं देख पाता। जरूरत है उसके बाहर देख पाने की क्योंकि उसके बिना नयी सृष्टि नहीं हो सकती, नये मूल्य नहीं पाये जा सकते। सच्चा विद्रोही सबसे पहले उस दृष्टिभंगी का निषेध करता है जो उसे अपने महाजनी समाज से मिली है। मजदूर कभी हड़ताल ही न कर सके अगर वह यह मान ले कि हर आदमी अकेला है। वह तो अपनी सामूहिक लड़ाई के माध्यम से अपने इस विरोधी सत्य की घोषणा करता है कि आदमी अकेला नहीं है और न्याय के संघर्ष में बहुत से सहयोद्धा हो सकते हैं। बिना उन पतनशील मूल्यों को नकारे कुछ भी करना संभव नहीं है और कोई इस बात को जाने या न जाने, जिस एस्टैब्लिशमेंट को वह तोड़ने निकला है उसको तोड़ना तो दरकिनार वह इन मूल्यों को अंगीकार करके और अपनी लेखनी में उतारकर

उसकी जड़ों को और भी मजबूत ही करता है क्योंकि उन्हीं 'मूल्यों' पर तो वह एस्टैब्लिशमेंट खड़ा है।

निषेध अपने आप में पूरी बात नहीं है — उसके बाद सवाल रह जाता है, किसका निषेध ? और किस लक्ष्य के लिए ?

'निषेध के लिए निषेध' और किसी अंधी गली में भटकना एक ही बात है, जहाँ रास्ता तो मिलता नहीं, हाँ, आदमी अपने को थका जरूर ले सकता है— और बड़बड़ा सकता है, जी भर के, इस मनहूस नगरपालिका पर जो रास्तों का ठीक से संकेत भी नहीं दे सकती, मकानों को ढंग से नंबर भी नहीं दे सकती; उस कमबख्त दोस्त पर जिसे और कहीं घर नहीं मिला जो इसी अंधी गली में आकर मरा जिसका सर-पैर ही नहीं मिलता; सारी दुनिया पर जो अपने राग-रंग में मस्त चली जा रही है, कंधे से कंधा छिल रहा है मगर एक माई का लाल नहीं है जो घड़ी भर रुककर किसी परदेशी को उसके ठिकाने पर पहुँचा दे !

यह अंधी गली अंधे गुस्से की है — उद्दाम, लेकिन निरर्थक और सर्वथा आत्मघाती, क्योंकि अपना विवेक खो गया है या पथरा गया है। परिस्थितियाँ एकदम प्रतिकूल हैं, जहाँ हर रास्ता थोड़ी दूर जाकर अंधी गली में बदल जाता है। सब तरफ ढोंग और ढकोसले का राज है (बहुत पुरानी सभ्यता होने की यह भी शायद एक बरकत है कि आदमी ढोंग करना बहुत अच्छा सीख जाता है और उसमें नित नये आविष्कार कर सकता है !) इतना कि आदमी के असल चेहरे और उसके मुखौटे में पहचान करना मुश्किल हो गया है। कठिन समय है। निश्चय ही बड़ा कठिन समय है। एक से आस टूटती है तो आदमी दूसरे से आस बाँधता है, दूसरे से आस टूटती है तो तीसरे से बाँधता है, लेकिन अगर ऐसा वक्त आ जाय कि सब तरफ, दूर-दूर तक, बस झूठ और बेईमानी का राज हो और हर नेता, चाहे वह किसी भी पार्टी का हो, जनता को अपने हाथ का खिलौना बनाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता हो, तब फिर क्या हो ? तब फिर वही सब होता है जो कि हो रहा है। लड़ने-मरनेवालों की एक बिफरी हुई पल्टन सारे देश में घूम रही है, लेकिन सेनापति नहीं है जो उन सबको एकजुट करके अपने साथ ले चले और बताये कि किधर जाना है, किससे लड़ना है, कैसे लड़ना है, क्यों लड़ना है, दुश्मन कौन है, दोस्त कौन हैं, दोस्त को अपने साथ समेटें कैसे, दुश्मन को अलगायें कैसे जो सात पर्दों में छिपा बैठा है और विद्रोहियों की पाँतों में बैठकर उन्हें बहका रहा है ... कोई आगे बढ़कर रास्ता दिखानेवाला नहीं है। कल के रहबर आज के रहज़न बन गये हैं।

जनता की आँखों में राजनीति मात्र चालबाजों का, गोटीबाजों का, लाइसेंस और परमिटबाजों का खेल बन गयी है। किसी की अब कोई साख नहीं रही। स्वाधीनता-संग्राम के दिनों की बलिदानी राजनीति (गो याद रखने की जरूरत है कि गोटीबाजों की तब भी कमी न थी और आज उनकी जो खेती गहगहा-कर फूली हुई है, वह एक दिन की पैदावार नहीं है!) अब एकदम पुरानी पड़ गयी है और यहाँ-वहाँ इक्का-दुक्का सिरफिरा ही उस डगर पर चलता नजर आता है। अब तो वह बस किताबों की ही चीज रह गयी है और स्वाधीनता आंदोलन के 'प्रामाणिक' इतिहासों को तैयार हो जाने दीजिए, फिर वहाँ से भी उनका नाम-निशान मिट जायेगा क्योंकि इतिहास में भी पहले उन नेताओं को स्थान देना जरूरी है जो आज सत्ता की कुर्सियों पर बैठे हुए हैं। एक-एक प्रदेश में आज इसी तरह का 'प्रामाणिक' इतिहास लिखवाया जा रहा है और कुछ अजब नहीं कि उनमें ऐसे ढेरों लोगों का नाम भी न हो जिन्होंने उस वक्त सबसे आगे बढ़कर काम किया था, अपना सर तुड़वाया था, घर फुँकवाया था, बरसों-बरसों जेल में सड़े थे, बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने में भी पीछे नहीं हटे थे — मगर जो सीधे-सादे, निहायत मामूली, गुमनाम लोग थे। अच्छा है कि गुमनामों को गुमनाम ही रहने दिया जाय और उन तेज लोगों को सामने आने का मौका दिया जाय जो कूटबुद्धि से या अपनी और अपने सरपरस्तों की थैली के जोर पर आगे आने और बराबर आगे ही बढ़ते रहने का दमखम रखते हैं। देश को आज ऐसे ही लोगों की जरूरत है — गुमनामों को नाम देकर होगा भी क्या, उनके किसी काम तो आयेगा नहीं, नाम दो उसको जो उसे सूद पर आगे चला सके! वही नये जमाने का चालू आदमी है, उसी के किये-धरे होगा जो कुछ होगा, तुम्हारे वो गुमनाम लोग तो साधू बाबा टाइप हैं, उन्हें जो कुछ करना-धरना था कर-धरके मर-बिला गये, अब उन्हें सोने दो आराम से, क्यों खामखाह छेड़ते हो बेचारों को, देश को आज दूसरे ही मेल के आदमी की जरूरत है, वही जो आगे आ रहा है, और इसीलिए आगे आ रहा है कि उसके पास वक्त की जरूरत का जवाब है!

नेता बिलकुल ठीक कह रहा है। जभी तो इस शहर के सबसे बड़े पार्क का नाम आजाद पार्क नहीं रखा जा सका, गो इसी पार्क में उसने अकेले दम पुलिस से मोर्चा लिया और शहीद हुआ। जिस पेड़ की आड़ लेकर उसने अपना मोर्चा जमाया था और जहाँ पर ही वह शहीद हुआ था, जनता ने उस पर फूल चढ़ाना शुरू कर दिया, अंग्रेज साहब बहादुर ने तंग आकर उस पेड़ को ही कटवा दिया मगर उससे क्या होता है, लोगों ने तो अल्फ्रेड पार्क या कंपनी बाग को आजाद पार्क

नाम दे ही दिया और वह नाम चल भी गया, लेकिन देश की आजाद हुकूमत ने आजाद पार्क नाम मंजूर नहीं किया और उसे एक दूसरे बड़े नाम से जोड़ा, मोतीलाल नेहरू के नाम से, जो यों बड़े से बड़े सम्मान के अधिकारी हैं, लेकिन हर चीज तो उनके नाम से नहीं जोड़ी जा सकती, खासकर तब जब कि एक वीर देशभक्त का खून वहाँ पर गिरा था और बीसों बरस से आजाद का नाम उस पर और लोगों की जबानों पर चढ़ चुका था। लिहाजा हुआ यह कि एक नाम को सरकार ने नहीं स्वीकारा, सरकारी नाम को जनता ने नहीं स्वीकारा और फिर वही पुराने नाम, कंपनी बाग और अल्फ्रेड पार्क, लौट आये !

कहने का मतलब यह कि सच्चे देशभक्तों के नाम लोगों की स्मृति से भी उड़ा देने में हमारे शासकवर्ग को हिचक नहीं। लेकिन यह उनकी खामखयाली है अगर वह सोचते हैं कि अपनी इस कोशिश में वह कामयाब हो जायेंगे। जनता की स्मृति इतनी कच्ची नहीं होती। वह जिसका आदर करती है, जिसे प्यार करती है, दिल खोलकर करती है। उसके पास अपने दस्तावेज हैं जिन्हें वह बड़े जतन से अपने सीने से लगाकर रक्खे हुए है, और जब भी इस अभागे देश के दिन फिरेंगे, वह सारी चीजें एक के बाद एक निकलती आयेंगी। और उस दिन ये 'प्रामाणिक' इतिहास भी फिर खूब अच्छी तरह छाँटे-पछोरे जायेंगे।

लेकिन इसमें क्या संदेह कि आज का समय आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से जितना कठिन है उससे भी अधिक कठिन चरित्र की दृष्टि से, मूल्यों की दृष्टि से है। सारे मूल्य ही उलट गये हैं — काला सफेद हो गया है और सफेद काला। संकट और भी गहराता इस बात से है कि ऐसी कोई शक्ति अभी दिखायी नहीं पड़ती जो इस शासकवर्ग को हटाकर उसकी जगह ले सके और देश को स्वास्थ्य के रास्ते पर लगाये।

एक मतलब में तो सारी दुनिया का ही हाल बिगड़ा हुआ है, किसी का एक कारण से, किसी का दूसरे कारण से। काफी खराब नक्शा है, लेकिन हमारे यहाँ जैसी भरपूर, टोटल खराबी शायद कहीं भी नहीं। जिधर देखिए, संघर्ष, विग्रह, अशान्ति। अच्छी बात एक ही है कि लोग लड़ना-मरना नहीं भूले हैं, जवान पीढ़ी में जोश की कमी नहीं है। नेतृत्व ढंग का न मिलने के कारण बहुत सी लड़ाई अव्यवस्थित ढंग की होती है जिसमें कीमत तो बड़ी चुकायी जाती है लेकिन फल उस अनुपात में नहीं मिलता। पर जब तक लोगों में यह संघर्ष भावना शेष है, हमें पूरी आशा है कि आगे-पीछे विद्रोही युवा पीढ़ी के भीतर से ही उनका नया नेतृत्व उभरकर आयेगा। शर्त एक ही है कि लड़ने-भिड़ने के साथ-साथ वैचारिक स्तर पर भी क्रियाशीलता बढ़े, वर्तमान स्थिति के

मौलिक प्रश्नों पर गंभीरता से सोचा जाय, आपस में बहस की जाय, हवाई बहस नहीं क्योंकि उसका तो कहीं अंत नहीं, तात्कालिक संदर्भों से जुड़ा हुआ विचार-विमर्श, स्थिति को उसकी गहराई और पेचीदगी में जाकर समझने के लिए, यह समझने के लिए कि हम किस जमीन पर खड़े हैं, हमें क्या करना है, कितनी सफलता की आशा की जा सकती है, अवरोध के क्या-क्या रूप हो सकते हैं, उनकी हमारे पास क्या काट है, हमारे संघर्ष का सांगठनिक रूप क्या हो, विभिन्न राजनीतिक दलों की नीतियों, उनके कार्यक्रम और उनके नेतृत्व का मूल्यांकन हम किस प्रकार करते हैं, उनसे क्या आशाएँ-अपेक्षाएँ रखते हैं या नहीं रखते, सबके साथ मिलकर संघर्ष में उतरने की क्या संभावनाएँ हैं, उसका सैद्धांतिक-सांगठनिक आधार क्या होगा, वर्तमान विद्यार्थी आंदोलन और युवा आंदोलन के छिटफुट विस्फोटों को समेटकर उन्हें कैसे एक विद्रोही-क्रान्तिकारी कार्यनीति के आधार पर संघबद्ध किया जा सकता है, आदि आदि अनेक प्रश्न हैं। सामाजिक जनक्रान्ति के बिना आगे की सब राहें अवरुद्ध दिखायी पड़ती हैं। राहें तो उस जनक्रान्ति की भी अवरुद्ध दिखायी पड़ती हैं क्योंकि उसकी शक्तियाँ बिखरी हुई हैं। लेकिन क्रान्तियों का इतिहास देखने पर पता चलता है कि आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से परिस्थिति जब क्रान्ति के लिए पक जाती है तब घटनाओं में, उन घटनाओं की लोक-प्रतिक्रियाओं में, यानी कुल मिलाकर इतिहास की गति में बहुत बार इतनी तेजी आ जाती है जिसकी पहले किसी ने कल्पना भी नहीं की होती और बहुत से ऐसे संयोग भी जुड़ जाते हैं, जो सर्वथा अप्रत्याशित होते हैं।

यह क्रान्ति का कोई मिस्टीक या रहस्यलीला नहीं है जिसकी बात निराशा के वातावरण को झुठलाने या हल्का करने के लिए और अपने और दूसरों के मन को बहलाने के लिए कही जा रही है — उसके पीछे इतिहास का प्रमाण है। और उसके मूल में है वह लोक-मानस जिसकी गहराइयों और ऊँचाइयों और करवटों को नापने का कोई यंत्र आज तक ईजाद नहीं हुआ। इसीलिए प्राय: सभी क्रान्तियों में कुछ ऐसे अज्ञेय-अचिंत्य तत्व निकल आते हैं जिनकी बात भी किसी ने नहीं सोची या सोच पायी थी।

लेकिन साथ ही यह भी सच है कि ये अज्ञेय-अचिंत्य तत्व, भले वे जल्दी किसी की पकड़ में न आयें, मगर पैदा होते हैं एक जीवंत संदर्भ से ही। इसलिए अपनी दृष्टि तो उस जीवंत संदर्भ को अधिक से अधिक स्पष्ट और सुचिन्तित बनाने की ओर होनी चाहिए।

इसी को ध्यान में रखकर हम इस बात पर बल देना जरूरी समझते हैं कि मात्र निषेध एक अंधी गली है जिसमें केवल भटकना हाथ लगता है; निषेध सार्थक तभी तक है जब तक कि वह अस्ति की भूमि पर खड़े होकर किया जा रहा है — अस्ति की भूमि अर्थात् जीवन के कुछ असंदिग्ध, सुनिश्चित, निरपेक्ष, अस्तिवाचक मूल्य, जिन्हें हम वरेण्य मानते हैं, और जिनकी ही दृष्टि से हम उन तत्वों, शक्तियों, मूल्यों का निषेध करते हैं जो हमारे इन वरेण्य मूल्यों का निषेध करते हैं या उन्हें क्षति पहुँचाते हैं। जहाँ ऐसे कोई मूल्य ही नहीं वहाँ आप खड़े किस जमीन पर हैं ? वह तो शून्य में किया गया, निस्सार, निरर्थक, वायवी निषेध है जिसका कहीं पहुँचना तो दूर की बात है, समझ पाना ही कठिन है।

हमने देखा कि मात्र निषेध अधूरी बात है, अस्ति के संदर्भ में किया गया निषेध ही सार्थक निषेध है। क्योंकि उसी के भीतर से उस सार्थक कर्म की प्रेरणा मिलती है जो पुराना कुछ तोड़ता है तो नया कुछ बनाता भी चलता है, बल्कि यों कहें कि नया जो कुछ बनाना है उसी की रोशनी में, उसी की कसौटी पर कसकर, वह इसका निर्णय करता है कि पुराना क्या तोड़ना है।

यहीं पर फौरन यह बहस शुरू हो जाती है कि नया क्या है और पुराना क्या है। हमारे यहाँ ज्यादा नहीं तो दो दशकों से 'आधुनिकता' की परिभाषा को लेकर विवाद चल रहा है, और जहाँ तक हमें पता है अब भी उसका समाधान नहीं हुआ।

मुझे भी जब-तब इस बहस में शरीक होने का संयोग हुआ है, इसलिए मुझको लगता है कि यह सवाल जो यों ही कुछ कम कठिन नहीं है, कभी-कभी इसलिए और भी उलझ जाया करता है कि हम उस पर विचार करते समय सजीव मनुष्य के संदर्भ में और देश-काल के संदर्भ में विचार न करके अमूर्त चिंतनसरणियों में जा फँसते हैं जो कालांतर में बस शब्दों का जंगल होकर रह जाती हैं। मनुष्य का आधार आवश्यक है क्योंकि सब कुछ उसी मनुष्य से है और उसी मनुष्य के लिए है, वही चिंतन कर रहा है और उसी के लिए चिंतन किया जा रहा है। कोई भी बहस हो, मनुष्य का आधार मिलते ही उसे अपनी ठोस धरती मिल जाती है। और देश-काल का आधार आवश्यक है क्योंकि मनुष्य इसी देश-काल में अपने विशिष्ट ढंग से रहता है, और उसका वह अपने विशिष्ट ढंग से रहना ही उसकी मनोरचना का भी विधायक और नियामक होता है। देश-काल का आधार मिलते ही सारी बातचीत को एक फ्रेम मिल जाता है जो कि बहुत जरूरी है क्योंकि उसके बिना बहक जाने का डर रहता है।

मैंने देखा है कि कुछ नये लोग दिशा-काल की चर्चा से बहुत बिदकते हैं। इसमें शायद उन्हें बात को छोटा करने या उसके स्तर को गिराने का षड्यंत्र दिखायी पड़ता है। ऐसी कोई बात नहीं। यह एक सहज स्थिति की सहज स्वीकृति से अधिक कुछ नहीं। कुछ लोग इसके जवाब में यह भी कहते सुने जाते हैं कि दुनिया अब इतनी छोटी हो गयी है कि उसे देश की सीमाओं में बाँधकर देखना उसके साथ अन्याय करना है।

दूरियाँ निश्चय ही कम हो गयी हैं, बहुत कम हो गयी हैं। शायद अगले दो-तीन रोज में आदमी चाँद पर पहुँच जायेगा — आपके हाथ में यह लेख पड़ने के पहले शायद पहुँच गया रहेगा। हिन्दुस्तान से योरप की यात्रा में पाँच-छः घंटे लगते हैं — जितना समय कई बार यहाँ से बनारस पहुँचने में लग जाता है। योरप से अमरीका पहुँचने में और चार घंटे का समय लगा लीजिए, लेकिन बनारस से गोरखपुर पहुँचने में उसका दुगना समय लगता है — यानी कि अगर मघई में गाड़ी न उल्टे! और जो गाड़ी उलट गयी तब तो फिर कुछ कहना ही नहीं, आदमी जरा ज्यादा ही लंबी यात्रा करके कहीं का कहीं पहुँच जाता है! तो इसमें क्या शक कि भौगोलिक दूरियाँ बहुत कम हो गयी हैं, दुनिया बहुत छोटी हो गयी है। लेकिन यह भी याद रखने की जरूरत है कि दूरियाँ भौगोलिक ही नहीं ऐतिहासिक भी होती हैं, क्योंकि आदमी भूगोल में ही नहीं रहता इतिहास में भी रहता है। जभी तो हम यह विरोधाभास भी देखते हैं कि एक ओर आदमी चाँद पर पहुँच रहा है और दूसरी ओर इसी धरती पर एक देश और दूसरे देश के बीच की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं, यहाँ तक कि एक आदमी और दूसरे आदमी के बीच की दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। सबके पीछे वही एक मोटी सच्चाई है कि आदमी भूगोल में ही नहीं रहता, इतिहास में भी रहता है। धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक मनुष्य जाति ही रहती है लेकिन उनके विकास का क्रम एक नहीं है। कुछ कितनी पुरानी सभ्यताएँ हैं जिन्होंने आज से हजारों साल पहले साहित्य और कला में, ज्ञान-विज्ञान में दुनिया को कितना कुछ दिया है जिससे दुनिया आज भी मालामाल है, जब कि एशिया और योरप के संधिस्थल पर खड़े हुए एक यूनान को छोड़कर बाकी योरप में अँधेरा छाया हुआ था। फिर मध्ययुग में आकर योरपीय सभ्यता में एक अपूर्व उन्मेष आया, जिसे प्राचीन यूनानी सभ्यता और संस्कृति के संदर्भ में योरप का पुनर्जागरण कहा जाता है। साहित्य और कला और समस्त ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उसकी उपलब्धियाँ इतनी बढ़ी हैं और उनसे पूरे समाज को इतनी शक्ति और इतना वेग मिला, और इस तरह उसने अपना साम्राज्य-विस्तार करके एशिया और अफ्रीका

को अपना गुलाम बना लिया कि यहाँ की पुरानी संस्कृतियों की रही-सही जीवनी-शक्ति का भी लोप हो गया और वे हमारी लूटपाट से और भी माला-माल होकर दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की करते रहे, यहाँ तक कि ढाई-तीन सौ बरस में दोनों के बीच वह दूरी पैदा हो गयी जो कि आज हमारे सामने है।

स्पष्ट है कि दोनों की स्थितियों में बहुत बड़ा अंतर है, जिसे देखने की जरूरत है — अगर हम चाहते हैं कि हमारी संस्कृति अपनी वास्तविक स्थितियों के बीच से अपने विकास की दिशा पा सके, और अगर हम चाहते हैं कि हमारा साहित्य यहाँ पर रहनेवाले आदमी के प्रति निवेदित हो और उस नाते यहाँ की धरती में मजबूती से अपनी जड़ जमा सके। दुर्भाग्यवश हमारे कुछ नये लोगों के पास यह ऐतिहासिक दृष्टि नहीं है। वे इसी को पूरी बात समझ बैठे हैं कि भौगोलिक दूरियाँ मिट गयी हैं और पश्चिम का नये से नया साहित्य और साहित्यिक आदोलन की सूचना इतनी अधिक सुलभ हो गयी है। इससे उत्साहित होकर हमारा यह तथाकथित आवाँ गार्द ('अगला दस्ता', जो सचमुच पिछला दस्ता है क्योंकि उसे अपनी मिट्टी की जरा भी समझ नहीं है) हर रोज लंदन, पेरिस, न्यूयार्क या मेक्सिको का एक नया शिगूफा लेकर पहुँच जाता है, और जब वह यहाँ जड़ नहीं पकड़ता तो वह अपनी जनता को, उसके पिछड़ेपन को हजार गालियाँ सुनाकर, निरुत्साहित होते-होते एक दिन लिखना-पढ़ना छोड़ बैठता है — भैंस के आगे बीन बजाने से क्या फायदा!... जब कि सच पूछिए तो अगर उसे गाली ही देनी है तो खुद को देनी चाहिए, और अपनी उस कच्ची और नितान्त अनैतिहासिक समझ को जो अपने देश-काल को देखने से इन्कार करती है और समझती है कि जो भी, जैसा भी बिरवा जहाँ से भी लेकर आओ, यहाँ रोपा जा सकेगा, आधुनिकता के नाम पर और अपना ढोल पीटने के बूते पर! इतना आसान खेल नहीं है, वर्ना आज गली-गली मसीहों से पटी पड़ी होती!

देश-काल से वियुक्त होकर न तो सार्थक साहित्य लिखा जा सकता है और न कोई सार्थक विद्रोह किया जा सकता है। उसकी संगति बैठे बिना कुछ नहीं हो सकता। आधुनिक यातायात के साधनों से भौगोलिक दूरियों का कम होना और इस तरह दुनिया का सिमटकर छोटा हो जाना स्थिति को बिलकुल प्रभावित न करता हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन आनुषंगिक रूप से; मूल स्थिति में उससे विशेष अंतर नहीं पड़ता। हम चाहें या न चाहें, देखें या न देखें, यह एक अटल सच्चाई है कि उनकी स्थिति और है, हमारी और; उनकी समस्याएँ और हैं, हमारी और। यह कहने से भी काम नहीं चलेगा कि इन बातों पर क्यों

जाते हैं, परिणाम देखिए। परिणाम में सब जगह आदमी दुखी है, क्लांत है, विपर्यस्त है।

परिणाम तो हर सांघातिक रोग का एक ही होता है, मृत्यु — लेकिन क्या इस कारण हर रोग का इलाज एक ही हो जाता है? एक आदमी अफरे से मरता है, दूसरा आदमी बिना खाये मरता है, दोनों का इलाज क्या एक ही है? मेरे देखने में पश्चिम की महाजनी सभ्यता की समस्या भटके हुए, बहके हुए विकास की समस्या है; हमारी समस्या एक पराजित, परतंत्र, निष्पेषित देश के अवरुद्ध विकास की समस्या है — जिसे देश के परम दुर्भाग्यवश, हमारे नेता, कथनी में समाजवाद और करनी में पश्चिम के उसी चुके हुए, ढहते हुए, बदकार और बदनाम महाजनी तरीकों से हल करने की कोशिश कर रहे हैं और नतीजे में अच्छा कुछ करना तो दूर की बात है, देश को दिनों-दिन नरक बनाये डाल रहे हैं जहाँ एक ओर अभाव है, अशिक्षा है, अस्वास्थ्य है, अनैक्य है तो दूसरी ओर उसी महाजनी सभ्यता के साथ आयात की हुई महाव्याधियों, चोरी और डाके, हत्या और बलात्कार का बाजार गर्म से गर्मतर होता चला जा रहा है।

इस तरह से देखने पर काफी स्पष्ट हो जाता है कि देश के इस अवरुद्ध विकास की समस्या, आज के संदर्भ में, वस्तुतः देश की उस अवरुद्ध क्रांति की समस्या है जिसका एक पड़ाव १५ अगस्त १९४७ को मिलनेवाली राजनीतिक स्वाधीनता थी, जैसी भी वह थी — और जिसमें वह सभी कमजोरियाँ थीं जिनके बीज हमारे स्वाधीनता आंदोलन में ही मौजूद थे।

अवरुद्ध क्रांति से हमारा अभिप्राय यही है कि देश की स्वाधीनता के आंदोलन के रूप में भारतीय जनता की जो हिंसात्मक-अहिंसात्मक क्रांति अनेकानेक उतार-चढ़ाव, गलियों और मोड़ों से होकर सन् १८५७ के बाद से चलती चली आ रही थी और जिसके फलस्वरूप देश को राजनीतिक स्वाधीनता मिली, वह एक बृहत्तर आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के रूप में आगे विकास करने के बदले अपने उसी पड़ाव पर ठंडी पड़ गयी। राजनीतिक स्वाधीनता छोटी चीज नहीं है और न हम उसके महत्व को कम करके देखना-दिखाना चाहते हैं, लेकिन यह हम जरूर कहना चाहते हैं कि स्वतः उसका जितना भी महत्व हो उससे बड़ा उसका महत्व इस बात में होता है कि आगे उसको आधार बनाकर देश के निर्माण की दिशा में क्या किया जाता है। निस्संदेह राजनीतिक स्वाधीनता राष्ट्रीय निर्माण की नींव है। नींव के बिना घर खड़ा ही नहीं हो सकता। मगर यह भी याद रखना जरूरी है कि नींव घर नहीं है। रहता आदमी घर में ही

है जो कि उस नींव पर खड़ा होता है लेकिन अगर उस नींव पर कोई ढंग का घर न खड़ा हो जिसमें आदमी चैन से और बेखटके रह सके तो यह सवाल भी पैदा होता ही है कि कहीं वह नींव पोली तो नहीं थी, कच्ची या भुसभुसी तो नहीं थी, टेढ़ी तो नहीं थी। ये सभी सवाल पैदा होते हैं। लेकिन उस बहस को अगर फिलहाल छोड़ भी दें तो कम से कम इस एक बात से तो सभी सहमत होंगे कि नींव डाली ही इसलिए जाती है कि उस पर मकान खड़ा हो। ठीक उसी तरह राजनीतिक स्वाधीनता की चरितार्थता इसमें होती है कि वह देश के जनसाधारण की प्रगति के लिए समृद्धि और सुख-सुविधा के लिए क्या करती है। वह उसके खरे-खोटे की परख के लिए अगर एकमात्र नहीं तो शायद सबसे बड़ी कसौटी है, और उसी कसौटी पर उसको परखकर अक्सर लोगों को यह कहते सुना जा सकता है कि इस आजादी से हमको क्या मिला, यह तो झूठी आजादी है।

जिधर भी नजर डालिए, एक ही गिरावट और बदहाली और टूट-फूट। दिमाग बौखला जाता है, समझ में नहीं आता इस उलझे हुए सूत के गोले का वह छोर कहाँ पर है जिसे पकड़कर आगे बढ़ा जाय तो वह पूरा गोला धीरे-धीरे सुलझ जायेगा। कार्य-कारण के इस जंगल में या इस भूलभुलैया में उस केन्द्रीय कारण का, बीज-कारण का, जिससे हमारी इस महाव्याधि की दूसरी सब या अधिकांश शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटती हैं, निदान निश्चय ही सरल नहीं है।

हमारे कुछ नये लेखक बन्धुओं को शायद यह बीज-कारण उस ढोंग में दिखायी पड़ता है जो हमारे वर्तमान समाज ने अपने यौन जीवन के इर्द-गिर्द खड़ा कर रखा है। इसीलिए उस ओर से यौन स्वाधीनता या यौन विद्रोह का नारा बुलंद होता है। दुर्भाग्यवश हमारा उनसे मतैक्य नहीं है। हमने प्राथमिकता उस महाजनी अर्थव्यवस्था को दी है जिसे देश के शासकदल ने, समाजवाद की बातें करते हुए, कार्यतः प्रोत्साहित किया है और जिसने हर चीज को व्यापार बनाकर सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना विष घोल दिया है।

हमें बड़ी प्रसन्नता है कि प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी के नेतृत्व में आज बड़ी पूँजी के उस एकछत्र साम्राज्य पर चोट की जा रही है — जो काम पंडित नेहरू शायद और भी खूबी के साथ (देश को कम से कम आशा उनसे यही थी) जनता के और भी विराट् समर्थन के साथ कर सकते थे मगर कर नहीं पाये क्योंकि जनतंत्र के आंतरिक तत्व से अधिक महत्व उनके लिए उसके बाह्य रूप का था और सारे देश की भलाई से अधिक महत्व उनके लिए काँग्रेस दल की एकता का था। इन्हीं दो चीजों ने सब कुछ मिट्टी कर दिया — संसार के इतिहास में शायद

इतना विफल देशनायक दूसरा नहीं है जिसके पास इतने अपार साधन थे, जिसके पीछे इतना विराट् जनबल था, जो खुद इतना सच्चा था, ईमानदार था, घन-घोर परिश्रमी था, जनता को प्यार करता था और जिसे देश का बच्चा-बच्चा इतना ज्यादा प्यार करता था और जो अपनी इस पूँजी को लेकर कुछ भी कर सकता था मगर कुछ खास कर नहीं पाया। जो काम पंडित नेहरू नहीं कर सके उसे अब इंदिराजी कर रही हैं — अर्थात् सारे देश के हित में, बड़ी पूँजी के दुर्ग पर आक्रमण। पिछले एक महीने में इतना कुछ हुआ है जितना स्वाधीनता के इन बाईस वर्षों में नहीं हुआ — मोरारजी देसाई का अर्थमंत्री के पद से निष्कासन, चौदह बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण, और राष्ट्रपति के पद के लिए काँग्रेस के मनोनीत प्रार्थी महाजन-गोष्ठी के खास अपने आदमी संजीव रेड्डी को अनिवार्यतः कांग्रेस वोट दिलाने की माँग का समर्थन न करके काँग्रेस वोट को भी आजाद कर देना, जिसे आप ठीक आदमी समझें, जिसके लिए आपका अंतःकरण गवाही दे, उसे आप अपना वोट दें। किसी भी चुनाव के संबंध में कुछ भी कहना विपज्जनक होता है, लेकिन दोनों प्राणियों के लिए शक्तियों का जिस प्रकार का विभाजन है (चिंतामणि देशमुख किसी गिनती में नहीं हैं) और जिस प्रकार के संकेत मिल रहे हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि संजीव रेड्डी की पराजय और गिरि की विजय एक प्रकार से निश्चित है। ये सभी शुभसूचनाएँ हैं। देश में एक बार फिर जो उत्साह की लहर दिखायी पड़ रही है, उससे भी यही पता चलता है।

निश्चय ही देश के लिए यह एक सार्थक विद्रोह की दिशा है। अंततः यह चीज कहाँ पहुँचेगी, अभी कहना कठिन है। संभव है यह चीज और आगे बढ़े, जिसका मतलब होगा कि देश क्रियात्मक समाजवाद की ओर आगे बढ़ेगा। लेकिन यह भी संभव है कि यह चीज यहीं पर रुक जाये और एक बार फिर पीछे की तरफ लौटना शुरू हो जाये, उन्हीं नीतियों की ओर जिनके विरोध में आज यह सब हो रहा है। इतना तो निश्चित ही है कि वह शक्तिशाली महाजन वर्ग चुप बैठनेवाला नहीं है। जरूर ही उधर से प्रत्याक्रमण होगा। उस प्रत्या-क्रमण का रूप क्या होगा यह भी कहना कठिन है। इंदिरा गांधी को रास्ते से हटाने की कोशिश भी हो सकती है, डराने-धमकाने और तरह-तरह के दबाव डालने की क्रिया तो चल ही रही है। इसको असफल होते देखकर इंदिराजी को बहलाने-फुसलाने का, खुशामद और चापलूसी का रास्ता भी अख्तियार किया जा सकता है। समय देखकर अंतर्राष्ट्रीय दबाव भी डालने की कोशिश होगी ही। सभी कुछ होगा और इंदिराजी को मजबूती से उसका सामना करना होगा।

लेकिन कोई भी नेता हो उसकी असल ताकत होती है उसके पीछे खड़ी हुई जनता, यानी हम-आप। कहने का मतलब यह कि यह एक लड़ाई की शुरुआत है जिसमें हम सभी सैनिक हैं। विचार और कर्म, दोनों ही स्तरों पर हमें देश के इस आगे बढ़े हुए कदम को पीछे नहीं हटने देना है, बल्कि जहाँ तक परि-स्थितियाँ साथ दें और देश का विशाल बहुमत आगे जाने को तैयार हो, और भी आगे बढ़ना है। यह समझना घातक होगा कि इंदिराजी अकेले ही सब कुछ कर ले जायेंगी, हम किनारे खड़े होकर तमाशा देखें। सच तो यह है कि इंदिराजी ने देश की स्थिति और देशवासियों की नयी मनःस्थिति को देखकर ही यह बड़ा कदम उठाने का निश्चय किया होगा। उन्हें अपने भयानक विरोधियों का सामना करने के लिए अकेला छोड़ देना उनके साथ भीषण विश्वासघात होगा। सबके सम्मिलित उद्योग और संघर्ष से ही वर्तमान उपलब्धि की रक्षा की जा सकती है, और इसी दिशा में और भी आगे बढ़ा जा सकता है। उसके बिना नहीं। अब देखना यह है कि सब वामपक्षी और दूसरे प्रगतिकामी दल जो आज इंदिराजी का समर्थन कर रहे हैं आगे चलकर कार्यतः कितनी गहरी सूझबूझ और उदारमनस्कता का परिचय देते हैं और इंदिराजी को सफल बनाने के लिए किस रूप में और कितने सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए एक मोटी सी बात हमारे ध्यान में आ रही है।

बैंक कर्मचारियों का संघ बहुत शक्तिशाली है। उसका नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में है। बैंक का राष्ट्रीयकरण सफल होता है या नहीं होता यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि साधारण लोगों को, जो बैंक में रुपया जमा करते हैं, अब पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा, शिष्ट और तत्पर व्यवहार मिलता है या अशिष्ट, रूखा और काम में ढीला-ढाला व्यवहार मिलता है, जैसा कि अक्सर सरकारी दफ्तरों में मिलता है — और स्टेट बैंक में मिलता है। अगर बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सभी बैंक वर्तमान स्टेट बैंक जैसे हो जाते हैं तो इससे बुरी बात कोई नहीं हो सकती और यह निश्चय ही राष्ट्रीयकरण की नीति की पराजय और उसके विरोधियों की विजय होगी, जिसका प्रभाव देर-सबेर इस नयी नीति पर पड़े बिना नहीं रहेगा। अतः बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाने के बाद अब उसकी सफलता का दायित्व हमारे ऊपर है, हम जो उनमें काम करते हैं और हम जो उनके कर्मचारी संघ के साथी और नेता हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण की दूसरी और सबसे महत्वपूर्ण सफलता इससे आँकी जायेगी कि बैंक की पूंजी का ऋण के रूप में वितरण साधारण लोगों के बीच होता है या नहीं होता। जीवन बीमा का भी राष्ट्रीयकरण किया गया, लेकिन उनकी पूँजी वही बड़े

महाजन हथियाते रहे। वही चीज अगर बैंकों के साथ भी होती है तो इस राष्ट्रीयकरण का कोई लाभ देश को नहीं मिलेगा — बल्कि देश का अनिष्ट होगा, इस अर्थ में कि जनसाधारण की आस्था को गहरा धक्का लगेगा। इसलिए हम तो इसको अपने सार्थक विद्रोह की श्रृंखला की ही एक कड़ी समझते हैं और समझते हैं कि इसकी असलता पूर्णरूपेण इस प्रक्रिया में जनसाधारण के अंशग्रहण पर ही निर्भर करती है। जनचेतना का सबल और संगठित होना उसकी सफलता की एक जरूरी शर्त है।

पिछले महीने की घटनाओं से देश में जिस तरह उत्साह की एक नयी लहर आयी हुई है, जिस तेजी से और जिस परिमाण में इंदिरा गांधी को देश की साधारण किसान-मजदूर और मध्यवित्त जनता का सक्रिय-सतेज समर्थन प्राप्त हुआ है और होता जा रहा है, वह स्वयं प्रमाण है कि देश इसके लिए भूखा था, बेतरह भूखा था। बड़ी पूँजी के किले पर यह जो पहली चोट हुई है उसी ने लोगों में उम्मीदें जगा दी हैं। होने को अभी कुछ खास नहीं हुआ है लेकिन यही बात कि देश की अर्थनीति और राजनीति पर मुट्ठी भर बड़े पूँजीपतियों का जैसा एकछत्र स्वामित्व अब तक था वह अब कहीं पर थोड़ा सा टूटता दिखायी पड़ता है, लोगों में, जो इस ओर से बिलकुल निराश हो चुके थे, एक नयी आशा का संचार कर रहा है। संभावनाएँ निश्चय ही बड़ी हैं, अभूतपूर्व हैं, लेकिन इस सब में से अंततः उपलब्धि क्या होगी और कितनी होगी, यह तो समय ही बतायेगा। बहुत तरह की बाधाएँ और विघ्न उपस्थित होंगे, इंदिरा के शिविर के ही समाजवादी और समाजवाद-समर्थक दलों और तत्वों की रीति-नीति के घात-प्रतिघात सामने आयेंगे। उस सबके विस्तार में जाने का यह अवसर नहीं है और न हमारे अंदर उसकी अर्हता है। हम तो इतना ही जानते हैं कि इंदिराजी ने जो रास्ता इस वक्त पकड़ा है वही ठीक रास्ता है। आजादी के पहले दिन से वही रास्ता था, जो नहीं पकड़ा गया, और यही देश की वर्तमान दुरवस्था का भी प्रधान कारण है और जनता से कांग्रेस के कट जाने का भी। बड़ी खुशी की बात है कि इंदिराजी ने पिछले आम चुनाव के नतीजों से एक सही सबक लिया। मसल मशहूर है, सुबह का भूला शाम को घर आ जाय तो उसे भूला नहीं कहते। हमें सचमुच बड़ी प्रसन्नता है कि देश-नायकों में कोई तो है जिसकी आँखें अब भी सच्चाई को देख सकती हैं, वक्त की लिखावट को पढ़ सकती हैं। इंदिराजी ने 'स्वदेशी' की भावना को फिर से जगाने की बात की है, कांग्रेस के पुराने बुनियादी कार्यक्रम को क्रियात्मक रूप देने की बात है। अर्थात् स्वाधीनता आंदोलन के उस सूत्र को पुनः वहाँ से पकड़ना जहाँ वह १६४७ में

छूट गया था। लेकिन समय न तो किसी के लिए रुकता है और न बीते हुए समय को पलटाकर लाया जा सकता है। १९४७ के बाद आज बाईस वर्ष का समय बीत चुका है। इस बीच संदर्भ बदल गया है। अतः इस बदले हुए संदर्भ में ही उस मूल प्रतिज्ञा का कार्यान्वियन हो सकता है, यह बोध कांग्रेस के बाहर के समाजवादी-साम्यवादी तत्वों और दलों को, जो संप्रति इंदिराजी का समर्थन कर रहे हैं, एक नया मनोबल देकर इंदिराजी के साथ ऐक्य को अधिकाधिक सुदृढ़ करे, यही सब देशवासियों के साथ इस समय हमारी भी सबसे बड़ी अभिलाषा है। बड़े दुर्भाग्य की बात होगी अगर आपसी अविश्वास के कारण या इस कारण कि कुछ लोगों को कांग्रेस का यह कार्यक्रम यथेष्ट क्रांतिकारी न जान पड़े, उनमें और इंदिराजी में मतानैक्य हो। प्रश्न इस समय यह नहीं है कि इंदिराजी बैंक के राष्ट्रीयकरण जैसे और भी दस नये कदम जल्दी-जल्दी उठायें, असल प्रश्न इस एक बड़े कदम को पीछे न हटने देने का, उसे और भी मजबूत करने का और उसे ईमानदारी से कार्यान्वित करने का है। संप्रति देश में जैसी एक नयी स्फूर्ति, नवजीवन का संचार हुआ है, वह सार्थक विद्रोही शक्तियों की, देश की प्रगतिशील-समाजवादी शक्तियों की सबसे बड़ी पूँजी है। उसको आधार बनाकर देश को कहीं से कहीं पहुँचाया जा सकता है — शर्त एक ही है कि जन-जागृति की इस लहर को एक ओर चेतना के स्तर पर अधिकाधिक प्रबुद्ध और जीवंत बनाते जाना है और दूसरी ओर यह ध्यान रखना है कि अपनी ये स्वीकृत नीतियाँ बराबर कार्यान्वित की जाती रहें। अगर इस बार फिर सिर्फ बात होकर रह गयी और कुछ खास अमल नहीं हुआ तो न केवल यह कि जनता का उत्साह धीरे-धीरे ठंडा पड़ जायेगा बल्कि मर जायेगा और ऐसा मर जायेगा कि उसे फिर से जिलाना कठिन होगा। काम जितना बड़ा है, जिम्मेदारी भी उतनी ही बड़ी है, और इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए सभी को आपसी संबंधों की सहृदयता और सद्भावना के स्तर पर भी बहुत कुछ भूलना और नया बहुत कुछ सीखना पड़ेगा, जो कि स्वभावतः एक लंबी और कठिन प्रक्रिया होगी, लेकिन अगर देश के प्रति और जनता के प्रति अपना लगाव सच्चा हो तो बहुत बड़ी दूरी तो इतने से ही तय हो जाती है। हमें इस प्रसंग में यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि बैंक के कर्मचारियों ने बैंक-राष्ट्रीयकरण की नीति को सफल बनाने की दिशा में विशेष तत्परता से अपना काम करने का निश्चय किया है — जिसकी आवश्यकता को रेखांकित करते हुए हमने पहले हल्का सा संकेत किया था। ये शुभ संकेत हैं और देश की एक नयी करवट का पता देते हैं।

साहित्यकार के नाते भावना ही हमारा असल क्षेत्र है — और भावना ही

वह पहली और अंतिम भूमि होती है जहाँ पर किसी बड़े सामाजिक आंदोलन की हार-जीत होती है। पिछले बाईस वर्षों की गलत रीति-नीति के चलते जनता के भीतर वह भावना ही तो मर गयी है। उसी में फिर एक नया उन्मेष आया है। वही हमारी थाती है — यानी कि अगर हमें इस देश को किसी सार्थक विद्रोह की दिशा में ले जाना है, वर्ना देश मरा हुआ तो है ही और कुछ थोड़े से गिद्ध उसकी लाश को खा रहे हैं। लेकिन जब एक सूरत इन हालतों को बदलने की पैदा हुई है तो पूरी संजीदगी से उस दिशा में काम करने की जरूरत है। ऐसे मौके देश की जिन्दगी में बार-बार नहीं आते। पता नहीं कितनी शक्तियों के योग से कभी कोई चीज बन जाया करती है। वैसा ही एक मनोवैज्ञानिक क्षण यह भी है। सादोबा पाटील जब महाराष्ट्र से तिरस्कृत होने के बाद गुजरात से जीतकर लोकसभा में पहुँचे तो पहला बयान उन्होंने प्रेसवालों को यह दिया कि अब वे तख्ते पलटने का काम शुरू करेंगे — लेकिन रामजी की करनी कुछ ऐसी हुई कि उन्हीं का तख्ता पलट गया! जाहिर है कि सादोबा और उनके साथी जल्दी हार माननेवाले असामी नहीं हैं, खासकर जब उनकी पीठ थपथपाने को बड़े-बड़े पूँजीपति अपनी तिजोरियाँ खोले बैठे हों। यहीं पर साधारण जनता को अपने ही हित में इन्दिराजी के हाथ मजबूत करना है।

इंदिराजी ने स्वदेशी की भावना की बात की है। 'स्वदेशी' शब्द की व्याप्ति बहुत बड़ी है — स्वदेशी कपड़े और स्वदेशी चीजों के व्यवहार से लेकर देश की पूर्णतम आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वाधीनता तक अर्थात् देश की सार्वभौम मुक्ति का तेजस्वी उद्घोष। बंगाल के उस विप्लवी आंदोलन का भी नाम स्वदेशी ही था जिसमें जाने कितने वीर तरुण-तरुणियों ने अपने प्राणों की आहुति दी। निश्चय ही उसी व्यापक और गहरे अर्थ में हमें स्वदेशी को ग्रहण करना होगा — विदेशी पराधीनता के नानाविध नागपाश से मुक्ति का अभियान; अपनी भाषा, अपनी संस्कृति का गौरवपूर्ण अभिषेक; अपने इतिहास, अपने पुराण, अपने साहित्य और दर्शन, संगीत और नृत्य के बीच से अपने देश की स्वाधीन आत्मा का साक्षात्कार। यही स्वाधीनचेता देशों के करने के काम हैं और इसी प्रक्रिया में से देश को अपना नया अभ्युदय मिला करता है। सार्थक विद्रोह वही है जो कुछ नये मूल्यों की सृष्टि करता है, समग्र जीवन की नयी सृष्टि करता है। इस देश में यह काम बहुत बड़ा है और बहुत टेढ़ा है। क्योंकि देश बहुत विशाल है और अनेक जातियों और धर्मों और संप्रदायों और भाषाओं में बँटा हुआ है; उसकी संस्कृति जितनी प्राचीन है, उसकी वर्तमान अशिक्षा उतनी ही विराट्। जिस दिशा में चलकर यह

खंड-खंड बिखरा हुआ, संप्रति अभावग्रस्त और अनुन्नत और अल्पशिक्षित देश फिर से एक किया जा सके, अपने राष्ट्रीय निजत्व को पा सके, अपनी आत्मा को पहचान सके, सुखी और संपन्न हो सके, अपने भीतर से अशिक्षा और जड़ता को मिटा सके, वही सार्थक विद्रोह की दिशा है। स्पष्ट है कि देश के सामाजिक जीवन में अनुक्षण चरितार्थ होता हुआ कोई समाजवाद जैसा महत् राष्ट्रीय जीवन लक्ष्य ही इस काम को कर सकता है, एक ऐसा जीवन-लक्ष्य जिसमें देश का हर नागरिक सार्थक रूप से अपना अंश ग्रहण कर रहा है और अपनी आँखों के आगे एक नयी सृष्टि होते देख रहा है।

साहित्यकार के नाते हमको भी इसमें अपना अंश ग्रहण करना है, पर वह अंशग्रहण सार्थक हो इसके लिए सबसे पहली जरूरत तो इस बात की है कि हम खुद अपने देश को जानें, गहरे पैठकर जानें, अपने इतिहास और धर्म और दर्शन और काव्य के बीच से भी और सांप्रतिक दैनंदिन जीवन के स्तर पर भी, जैसा कि वह देश के विभिन्न अंचलों में विभिन्न स्तरों पर जिया जा रहा है। हमारा विश्वास है कि सार्थक विद्रोह की दिशा में सार्थक साहित्य की सृष्टि अपने समाज के जीवन में गहरे पैठकर ही हो सकती है — उसके बिना तो कथाकार के आगे दो ही विकल्प बच रहते हैं, या तो अपनी ही ऊब और कुंठा के मकड़जाल में उलझकर रह जाय या फिर अपने लेखन में अपने दिशाहीन फेनायित क्रोध को वाणी दे और समझ ले कि अपनी कहानी में किसी मादरज़ाद नंगी गाली को उठाकर रख देना ही विद्रोह है!

सहज कहानी

'नयी' कहानी के आन्दोलन की उपलब्धियों का लेखा-जोखा इतिहास अपने समय से निश्चय ही करेगा लेकिन इतना तो साफ है कि 'नयी' कहानी की खोज में सहज कहानी खो गयी।

सहज कहानी से हमारा अभिप्राय किसी खास लेखन-शैली की कहानी से नहीं है — न हितोपदेश की सांसारिक उपदेश-मूलक कहानियों से और न जातक की आध्यात्मिक बोध-मूलक कहानियों से, और न उन कहानियों से जिनमें विशुद्ध कल्पना का रस है जैसे किस्सा अलिफलैला, ऐंडरसन की परी-कहानियाँ, मिथक और पुराणकथाएँ, एक-एक देश और जाति और बोली की अपनी लोक-कथाएँ, किस्सा तोता-मैना, बैताल-पचीसी, सिंहासन-बत्तीसी और बृहत्कथामंजरी की दूसरी कहानियाँ, जिनका रस उनके कल्पना-विहार में है और जो कदाचित् हितोपदेश या ईसप की कहानियों के समान नैतिक उपदेश के लिए नहीं लिखी या कही गयीं, जिसका अर्थ यह न लिया जाय कि हम उन्हें नैतिकता-बोध से शून्य मानते हैं। कदापि नहीं, पर हाँ उनका नैतिकता-बोध बिल्कुल दूसरे ही स्तर और प्रकार का है, स्थूल नैतिक उपदेश के बदले एक सूक्ष्म ऋजु नैतिक दृष्टि जो कहानी कहने की अपनी मूल प्रतिज्ञा से अनुशासित है।

सहज कहानी से हमारा अभिप्राय पश्चिम से आनेवाली आधुनिक गल्प-विधा के उन महान् कहानीकारों चेखोव और मोपासाँ और ओ० हेनरी से भी नहीं है जिन्होंने सारी दुनिया की छोटी कहानी को प्रभावित किया है — और न उससे हमारा अभिप्राय शरतचंद्र की गाँव के परिवेश-वाली मार्मिक प्रेम-कथाओं से है, न रवीन्द्रनाथ की कविकल्पना की सघनतर अंतर्दृष्टि से संवलित सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कहानी से, जिसकी मानवी संवेदना का मूल उपादान कवि की सौन्दर्यदृष्टि है और मूल स्वर किसी अज्ञात कुहा-लोक के हठात् उद्घाटित हो जाने का पुलकित विस्मय, और न प्रेमचंद की कहानी से, जिसका मूल स्वर सामाजिकता का है और जो अपनी उसी सामाजिक अंतर्दृष्टि से व्यक्ति को, परिवार को, सामान्य जीवन-व्यापार को देखती है और शायद इसीलिए हर पाठक को इतनी अधिक अपनी लगती है।

सहज कहानी से हमारा अभिप्राय इनमें से किसी एक से या दो से या दस से नहीं बल्कि इन सबसे और इनसे अलग और भी बहुत से है क्योंकि सहज

कहानी से हमारा अभिप्राय उस मूल कथा-रस से है जो कहानी की अपनी खास चीज है, और जो बहुत सी 'नयी' कही जानेवाली कहानियों में एक सिरे से नहीं मिलता। किस्सा कहने-सुनने की आदिम भूख में से ही कहानी का जन्म हुआ है और अपने इस जन्मजात गुण या स्वभाव की रक्षा करके ही वह जीवित रह सकती है। दूसरा रास्ता कहानी की मौत का है क्योंकि कहानी (जैसे साहित्य मात्र, सभी विधाएँ उसकी, थोड़े-थोड़े अंतर के साथ) सामाजिक विधा है, जन्म से ही। एक आदमी कहानी कहता है, दूसरा आदमी कहानी सुनता है; वही दूसरा आदमी समाज है और यही कहानी की सामाजिकता का आधार है। गीत आदमी अकेले भी गा सकता है और अकसर अकेले ही गाता है, कहानी अकेले नहीं कह सकता, जब तक कि उसका दिमाग ख़राब न हो। दोनों के इस मौलिक अंतर को समझना जरूरी है। जिसका मतलब यह नहीं कि कहानी में गीति-तत्व नहीं होता। गीति-तत्व भी होता है और चित्र-तत्व भी होता है, स्थापत्य भी होता है और मूर्ति-कला भी होती है, दर्शन और अध्यात्म भी होता है और और भी बहुत कुछ होता है क्योंकि जिस गारे-मिट्टी से आदमी बना है उसमें सभी कुछ मिला हुआ है। लेकिन वह बिल्कुल और बात है। सब कुछ मिला हुआ का मतलब यह नहीं है कि सब कुछ एक है।

कहानी के इस मूल स्वभाव की ठीक पकड़ न होने से ही शायद 'नयी' कहानी लक्ष्यहीन सी इधर-उधर भटक रही है। कहानी पढ़नेवाले को इससे बहस नहीं कि आपने 'नयी' कहानी लिखी है या 'सचेतन' कहानी लिखी है या 'साठोत्तरी' कहानी लिखी है या 'अ-कहानी' लिखी है। जो मन चाहे लिखिए, पूरी छूट है आपको, पर वह कथा-रस दीजिए जो पाठक कहानी से पाना चाहता है, जिसको पाने का वह न सिर्फ आदी है बल्कि जो उसकी घुट्टी में और उससे भी आगे बढ़कर उसके खमीर में दाखिल है। जब तक उसकी यह माँग पूरी होती है, जो कि, फिर कह दें, उसके अभ्यास की माँग ही नहीं उसकी प्रकृति की माँग है, भूख है, तब तक आप कहानी के नाम पर इच्छानुसार प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र हैं और पाठक आपके साथ है, उसे रत्ती भर चिन्ता इस बात की नहीं कि आप अपनी कहानी को किस नाम से पुकारते हैं या कि इस शैली की कहानी इसके पहले लिखी गयी या नहीं लिखी गयी और जिसे आप अपनी कहानी का नया शिल्प कहते हैं वह कैसा है या कैसा नहीं है। उसे आम खाने से मतलब है, पेड़ गिनने से नहीं। रसोई जो उसके सामने परोसी गयी वह स्वादिष्ट है या नहीं, कौन से मसाले या कौन से रसायन आपने उसमें लगाये हैं, इससे उसे कुछ लेना-देना नहीं — और अगर कुछ लेना-देना है भी, कुछ पूछ-ताछ

करनी है भी, तो वह भी तभी जब कि उसे रसोई में स्वाद आया हो; रद्दी खाने की पाकविधि में किसी को दिलचस्पी नहीं होती। उसकी नजर बस एक चीज पर होती है, कहानी का रस। जिस कहानी में उसको वह रस मिलेगा उसकी तरफ दौड़ेगा और जब ऐसी कहानी उसको नहीं मिलती जो उसकी समग्र संवेदना के भीतर गहरे उतरकर उसको यह कथा-रस दे सके तो वह उन ढेरों कहानियों के पास जाता है जो एक उथले और घटिया स्तर पर उसकी इस कथा-रस की भूख को शान्त करती हैं। घटिया जासूसी-ऐयारी-तिलिस्मी कहानी-पत्रिकाओं की लोकप्रियता का यही रहस्य है। हम यह नहीं कहना चाहते कि इसके पीछे समाज की सामान्य नैतिक और सांस्कृतिक स्थिति भी काम नहीं कर रही है। निश्चय ही काम कर रही है और आगे भी अभी और न जाने कब तक काम करती रहेगी, लेकिन उसके साथ ही यह भी सत्य है, और उसी को हम रेखांकित करना चाहते हैं, कि इसके लिए कुछ हद तक हम कहानीकार भी जिम्मेदार हैं, जो अच्छी तरह कहानी कह सकते हैं, जिनके पास अच्छी जबान है, जिनकी कलम में जोर है, मगर जो अपने ढंग से अपने धरातल पर मन को बाँधने और छूनेवाली कहानी न लिखकर नयेपन के चक्कर में ऐसी बेजान और नीरस और गँठीली कहानियाँ लिखने में लगे हैं जिनको पढ़ना एक अच्छा-खासा प्राणायाम या साँसत है — और साँसत करवाने के लिए कोई कहानी नहीं पढ़ता! फिर जब पढ़नेवाले इन 'नयी' कहानियों को पढ़ना पसद नहीं करते और भाग जाते हैं तो यह नया कहानीकार अपने मन को समझा लेता है (बिना सोचे कि वह किसी का अपमान कर रहा है!) कि इसका कारण पाठक की रुचिहीनता है, अभी हमारी कहानी उसकी समझ में नहीं आ रही है क्योंकि वह नये ढंग की कहानी है और पाठक अब तक पुराने ढंग की कहानियाँ पढ़ता आया है! (फिर यह कैसे होता है कि इन्हीं में से कुछ 'नयी' कहानियाँ पसंद भी की जाती हैं?)

इससे बड़ी आत्म-छलना दूसरी नहीं हो सकती। जल्द से जल्द उससे मुक्ति पा लेना ही अच्छा है। जिस कहानी में सहज कथा-रस नहीं है वह किसी दिन लोकप्रिय नहीं हो सकती और न साहित्य में स्थायी प्रतिष्ठा ही पा सकती हैं, क्योंकि आदमी हर चीज से विद्रोह कर सकता है, हर चीज को छोड़ सकता है, अपने आंतरिक स्वभाव को नहीं। कहानी के सारे प्रयोग, इसीलिए, हमारी समझ में, इस सहज कथा-रस के चौखटे में किये जाने पर ही सार्थक हो सकते हैं।

कथा-रस सबसे पहले कथाकार की कथा-दृष्टि में होता है। उसने किसी चीज को किस रूप में देखा है, और किस तरह उसका संयोजन किया है। घटना

अपने आप में कहानी नहीं है। वस्तुतः घटना कहानी की घटना ही नहीं है जब तक कि कहानीकार अपने रचना-शिल्प से उसको अपनी कहानी के भीतर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित नहीं कर देता। और इसके लिए जरूरी है कि सबसे पहले उसका रचनाकार मन उस रूप में उसको देखे, पकड़े। वह देखना ही रस के व्यापकतम अर्थ में, सहज संवेदना के अर्थ में, सरस देखना है। जिस तरह कोई दो मन एक जैसे नहीं होते, उसी तरह कोई दो रचनाकार मन या कथाकार मन एक जैसे नहीं होते। किसी को कहीं पर कहानी दिखायी पड़ती है, किसी को कहीं पर।

सहज स्थिति यही है कि दो लोगों के लिखने में यह विभिन्नता हो — यानी जहाँ लेखन सच्चा है, खाँटी है, जेनुइन है। क्योंकि लेखक के पास अपना विशिष्ट मन है, जैसा किसी दूसरे का नहीं है — अपने विशेष प्रकार की सौन्दर्यदृष्टि, अपने विशेष संस्कारों की इतिहास-दृष्टि या सत्य-दृष्टि, अपनी खास तरह से झरनेवाली रचना-संवेदना, चेतना का अपना विशेष स्तर, विवेक की अपनी विशेष संज्ञा — और फिर व्यंजना की अपनी विशेष शैली, भाषा का अपना विशेष रंग, अपना विशेष जीवन-अनुभव। साहित्य कभी सामान्य में नहीं रहता, उसकी भूमि यही विशेष है, जो दूसरे कोण से देखने पर व्यक्ति की अपनी, नितान्त अपनी, सहजता है। और अपने इस सहज वैशिष्ट्य को समझना ही अपने साधारण जीवन-व्यापार में और अपने रचना-कर्म में अधिकाधिक सहज होना है। किसी और के प्रति नहीं, किसी और को ध्यान में रखकर नहीं, स्वयं अपने प्रति सहज। अपने ही जीवन-अनुभव और अपनी ही अनुभूतियों के प्रति सच्चा।

पिछले दिनों कविता में 'स्वानुभूत' और कहानी में 'भोगे हुए यथार्थ' की बात जितनी ज्यादा की जाती रही है, उसको देखते हुए शायद अपने जीवन-अनुभव और अपनी अनुभूतियों के प्रति सच्चे बने रहने की बात को रेखांकित करने की हमें जरूरत न होनी चाहिए थी। लेकिन है। इसलिए कि कथनी और करनी में मेल नहीं दिखायी पड़ता। ढेरों 'नयी' कहानियाँ, जो यहाँ-वहाँ छपती रही हैं और छपती रहती हैं, देख डालिए। सब में वही एक ही ढंग की यौन-कुंठा, ऊब, घुटन, जीवन की एकांत व्यर्थता का भाव और एक-सा ही उसका चित्रण। कहानीकार की अपनी अनुभूति का स्वाक्षर उसमें कहाँ है? (और जहाँ है, जिन थोड़ी सी कहानियों में, वहाँ वे अपने लेबुल से परे, बल्कि उनको झुठलाकर, सबसे अलग एक जीवंत कहानी के रूप में खड़ी हैं।) क्यों सब एक दूसरे की आवृत्ति और पुनरावृत्ति मालूम होती हैं?

इसका शायद पहला और सबसे बड़ा कारण है कि लेखक सहज होकर नहीं लिख रहा है। अपनी सहज अनुभूति को सहज ढंग से कह पाना ही साहित्य की वह कीमियागरी है जिससे मुर्दा शब्द जी उठता है। व्याख्या भले इस चीज की न की जा सके पर प्रतीति अवश्य होती है और बड़े सहज ढंग से होती है, और सब को होती है। सार्थक, रसोत्तीर्ण रचना को अपनी वकालत में पोथे रँगने की जरूरत नहीं पड़ती। यह कहना कि पाठक उसके लिए प्रस्तुत नहीं है या लंबी-लंबी टीकाओं के बिना समझ नहीं सकता, केवल दंभ है और आत्म-छलना। मनुष्य के चित्त से बड़ा संसार में क्या है, सारा विश्व उसके भीतर संपुटित रहता है। अनंत उसके कोण हैं, अनंत उसके स्तर, अनंत उसकी व्याप्ति। त्रिलोक, त्रिकाल सब उसी के भीतर है। मानव मन के बारे में आधुनिक विज्ञान अभी कितना जान ही पाया है। जो थोड़ा-सा जाना है वह बस एक झाँकी है उस विराट् रूप की जो किसी दिन पूरी तरह जाना नहीं जा सकेगा। कम से कम विज्ञान अर्थात् मनुष्य की विश्लेषक बुद्धि नहीं जान सकेगी। यह प्रातिभ ज्ञान की भूमि है जहाँ अन्तः प्रज्ञा के मंत्र से ही प्रवेश पाया जा सकता है। यही काम साहित्य अपने विशेष उपादानों से करता आया है, मनुष्य के मन के भीतर एक अन्तर्दृष्टि देकर, और यह आकस्मिक नहीं है कि मनुष्य के बारे में जो कुछ जितना कुछ हम जानते हैं वह अधिकांशतः सर्जनात्मक साहित्य की ही देन है, विज्ञान की नहीं। जैसा हमने कहा यह काम साहित्य अपने विशेष उपादानों से, अपने विशेष ढंग से करता है। और उसके ढंग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सब जानना संवेदनाओं के माध्यम से, और संवेदनाओं के स्तर पर होता है। और इस सत्य की प्रतीति के लिए कथाकार जितना अपने से बाहर दुनिया को देखता है, उससे कहीं ज्यादा अपने ही मन में, स्वयं अपने भीतर डूबकर देखता है, और बाहर भी जो देखता है उसकी भी अंतिम कसौटी अपने ही मन को बनाता है, अपनी ही अनुभूति और संवेदना को। जितने ही गहरे वह अपने भीतर पैठ पाता है उतनी ही सहज अन्तर्दृष्टि उसे मनुष्य मात्र के चित्त में मिलती है, और फिर जीवन के सार्वभौम सत्य को, अपने उस कोण से, उतने ही अधिक परिष्कृत, सर्वग्राह्य और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करना उसके लिए संभव हो पाता है। बात सुनने में कुछ असंगत-सी लग सकती है, पर वह केवल विरोधाभास है। स्वानुभूति और परानुभूति में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः दो अलग संदर्भों में वह एक ही चीज है। क्योंकि समस्त चराचर सृष्टि एक है, उसमें सब एक दूसरे से जुड़े हैं, और मनुष्य मात्र का चित्त एक है। पिंड में ब्रह्म को देखना भी यही चीज है। यही सहज स्थिति है पर इस सहज को पाना सरल नहीं है।

उसके लिए साधना अपेक्षित है। साहित्यकार की साधना भी ऐसी ही एक साधना ... बाह्य संदर्भों में मनुष्य का जो चित्त शतधा खंडित है उसके लिए फिर एक वह मिलन भूमि प्रस्तुत करना जहाँ सब एक हैं। पर इसके लिए सबसे पहले साहित्यकार के मन को ऐसा एक संगम-तीर्थ बनना पड़ेगा। अपना मानस-मुकुर स्वच्छ न हो तो बाहर का प्रतिबिंब वह कैसे ग्रहण करेगा। उसके लिए सहज भाव से जीना और जीवन के आघातों का वैसे ही सहज-उन्मुक्त भाव से अपनी संवेदनाओं के रूप में उत्तर देना जरूरी है। इसी बात को रवीन्द्रनाथ ने यों कहा कि अपने मन के खिड़की-झरोखे खोलकर रक्खो, जीवन को खुली हवा की तरह सब तरफ से अपने भीतर आने दो। फिर तुममें अगर रचना की क्षमता है तो वही तुम्हारे भीतर की दुनिया के साथ मिलकर एक नया रूप लेगा और तुम्हारी रचना बनकर बाहर आयेगा — जिसे तुम अपना कहकर जानोगे और दुनिया अपना कहकर पहचानेगी।

रचना की प्रेरणा के लिए यही सहज स्थिति है। रचना का अक्षय स्रोत भी इसी में है। नित नया, उतना ही जीवंत, उतना ही ताजा। नयी कहानी अब काहे पर लिखें. विषय-वस्तु के ऐसे किसी संकट का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। रचनात्मक संकट फिर भी रहता है, किसी भी विषय-वस्तु को करायत्त करने और उसको अपनी मानस-छवि की रेखाओं और रंगों में रूपायित करने का संकट, मगर वह बिलकुल और बात है क्योंकि एक ओर से देखने पर जो रचना का संकट है वही दूसरी ओर से देखने पर रचना का सुख भी है।

लेकिन यह सहज स्थिति समाप्त हो जाती है जब हम बाह्य दबावों में पड़कर जीवन को अपनी खुली आँखों न देखकर रंगीन चश्मों के पीछे से देखने लगते हैं, या जीवन को उसकी समग्रता में न देखकर उसके किसी खंड को पकड़कर बैठ जाते हैं। जहाँ लेखक को लिखते समय यह चिंता सताने लगे कि उसकी रचना 'आधुनिकता' या 'आवाँ गार्द' के मानदंड पर खरी उतरती है या नहीं; उसने अगर कोई 'पॉज़िटिव' चरित्र उठा लिया या कोई ऐसा सार्थक जीवन-अनुभव जिसमें मनुष्य का कदर्य-कुत्सित रूप न उभरकर उसका अच्छा रूप उभरता हो तो उसकी टोली के लोग उसे किस रूप में ग्रहण करेंगे, कहीं उसे दकियानूस या पुरातनपंथी या कन्वेंशनल तो नहीं कहने लगेंगे, वहीं वह अपने ही को झुठलाना शुरू करता है और सहज संवेदना के स्थान पर आरोपित बौद्धिक लेखन की, मौलिक सर्जनात्मक लेखन के स्थान पर परिपाटीग्रस्त, अनुकरणमूलक छद्म लेखन की शुरूआत होती है और वही साहित्यकार की अकाल मृत्यु का राजमार्ग है। इस प्रकार का छद्म लेखन हमारे साहित्य में पहली बार नहीं

हो रहा है, छायावादी काल और प्रगतिवादी काल में भी प्रचुर छद्म लेखन हुआ था। इसीलिए उनका अधिकांश मिट गया, उनमें से ठहरा वही जो रचनाकार की सहज संवेदना में से निकला था, जिसकी रचना में कृतिकार की आत्मा का योग था। 'नयी कहानियाँ' और 'अकहानियाँ' जो बहुत सी लिखी जा रही हैं, उनके साथ भी अधिकतर वही बात होगी, बल्कि हो भी चली, शायद उससे बचने का कोई उपाय भी नहीं है। अनुकरणमूलक लेखन कुछ न कुछ होता ही है, पर यदि छोटे और सामर्थ्यहीन लेखकों की ही बात हो तो शायद उतना बुरा भी न लगे। दुःख तो तब होता है जब आदमी किसी अच्छे प्रतिभा-संपन्न कहानीकार को अपने इन्हीं रंगीन चश्मों के कारण भटक जाते देखता है। वह फिर कोई हो इसपे बहस नहीं। इस भटकाव के कितने ही कारण हो सकते हैं, पर शायद सबसे बड़ा कारण है अपने देश-काल को न पहचानना और अपनी सहज भूमि को छोड़ देना। अपनी सहज भूमि अर्थात् अपनी कथा-परंपरा की सहज भूमि और अपनी सहज संवेदना की भूमि। तथाकथित 'नवलेखन' में संवेदना भी संदेहास्पद हो गयी है, क्योंकि आधुनिक होने का अर्थ समग्र भाव से अनास्था-वान् होना मान लिया गया है और आस्था, कैसी भी आस्था, बहुत पुरानी और दकियानूस चीज हो गयी है। पर हमारा विश्वास है कि और चाहे जितनी अनास्था हो, लेखक के पास जब तक एक अंतिम आस्था अपनी मानवीय संवे-दना में नहीं है तब तक कोई सार्थक सृष्टि नहीं हो सकती। यहाँ तक कि, सार्त्र हों या कामू या काफ्का या नीत्शे या दोस्तोवेस्की, अनास्था का सार्थक स्वर भी किन्हीं महत् जीवन-मूल्यों या मानव-मूल्यों में लेखक की गहरी आस्था में से ही निकलता है, जरूरत बस उस आँख की है जो उस अनास्था के उद्घोष के पीछे से व्यंजित होनेवाली उनकी उस गहरी आस्था को पहचान सके। उसको संदेह की दृष्टि से देखकर, उसका तिरस्कार करके और संपूर्ण अनास्था को ही अपना जीवन-मूल्य बनाकर, जैसा किसी बड़े लेखक के यहाँ नहीं है, यह अतिआधुनिकता-वादी कहानीकार सबसे अधिक अपना ही अनिष्ट करता है।

हमें इस बात की बड़ी खुशी है कि हमारी सहज कहानी की चर्चा ने कहानी-पाठकों और नये कहानीकारों दोनों ही में एक नयी स्फूर्ति का संचार किया है; आनेवाले पत्रों में से कुछ यथास्थान प्रकाशित भी किये जा रहे हैं। स्वभावतः उनमें कुछ जिज्ञासाएँ भी हैं, शंकाएँ भी हैं। जैसे कि गोरखपुर के कोई शाक्य पार्थ रश्मि लिखते हैं — 'जिस सहज कहानी की बात आप चला रहे हैं क्या वह पुराण-कथाओं में नहीं है? या किस्सा तोता-मैना या ऐसी कई पुस्तकों में नहीं? क्या हम सब उसको लक्ष्य (आधार) बनाकर आज के संदर्भ में लिखें?' या कि

जैसे दिल्ली की आशारानी व्होरा लिखती हैं — 'कहानी को निरी कुंठाओं के दलदल से निकालकर सहजता के पथ पर लाने का यह प्रयास निश्चय ही स्तुत्य होगा, बशर्ते यह 'सहजता' भी एक आंदोलन न बन जाये और कथ्य की सहजता में कमजोर शिल्प को प्रश्रय न मिले ।'

बहुत संगत प्रश्न हैं । आशारानी व्होरा की शंका भी कुछ कम संगत नहीं है । आजकल कहानी की दुनिया में रोज ही जिस तरह एक नया नारा उठ खड़ा होता है, एक नये कहानी-आंदोलन की नींव पड़ जाती है, उसको देखते हुए इस शंका को निर्मूल नहीं कहा जा सकता । 'नई कहानियाँ' का नया संपादक आया है, जो कहानीकार के रूप में 'नयी कहानी' के आंदोलन से अलग-थलग रहा है और इतने बरसों नाम भी उसका बहुत नहीं उछला, कौन जाने अपने को आगे करने के लिए और खुद अपना एक नया गुट तैयार करने के लिए उसने यह सहज कहानी का शिगूफ़ा छोड़ा हो ! क्या ठीक, सभी तो शुरू में बड़ी-बड़ी बातें करते हैं !

ठीक शंका है, और हम उसका आदर करते हैं क्योंकि उससे पता चलता है लोग अब पहले से ज्यादा सजग हैं — लेकिन उसका समाधान समय ही कर सकेगा । अपनी ओर से हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हम कोई नया आंदोलन नहीं छेड़ना चाहते । आंदोलनों की यों ही कुछ कमी नहीं है, एक बाढ़-सी आयी हुई है । उसमें हम एक और आंदोलन छेड़कर क्या बना लेंगे । बहुत बेकार चीज है । असल चीज एक ही है, अच्छी कहानियाँ लिखी जायें । उन्हीं से हमको मतलब है, बाकी तो सब तमाशा है । तमाशे का भी एक मजा होता है, मगर तभी तक जब तक कि आप तमाशबीन हैं और खुद तमाशा नहीं करने लग जाते । अपने नये लेखक बंधुओं से इस संबंध में इतना ही हमारा निवेदन है । इस तरह की उछल-कूद में व्यर्थ अपना समय और सर्जनात्मक शक्ति मत गँवाइए । देखते तो हैं इस तरह के आंदोलनों और आंदोलकों की अंततः क्या गति होती है । अपना ढेरों समय और शक्ति इन्हीं सृजनेतर और सृजन-विरोधी कोशिशों में, घटिया तरह की आपाधापी में गँवाकर अच्छे-भले लिखने वाले, जिनमें निश्चय ही प्रतिभा का बीज है, लेखन की दृष्टि से भरी जवानी में ही बूढ़े हो जाते हैं, कोई शराब-कबाब की डगर पर भटक जाता है और कोई भीतर से ही इतना चुक जाता है कि उसकी कलम सूख जाती है । फिर लिखना तो एक तरफ छूट जाता है, बस यही उठा-पटक रह जाती है । यह ठीक है कि जहाँ कलियुग में संघशक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है, थोड़ा-सा और बहुत अस्थायी ढंग का आत्म-विज्ञापन जरूर हो जाता है, मगर कितनी बड़ी कीमत चुकाकर !

आंदोलन तो आते हैं जाते हैं, असल चीज अपना लिखना है, वही टिकता है, और अगर वही इस सब आपाधापी में अपने हाथ से छूट गया तो फिर क्या मिला ? हमारे नजदीक तो वह बहुत अच्छा सौदा नहीं ठहरता ।

जो हो, यह तो अपने-अपने समझने की बात है । हो सकता है, किसी को हमारी यह बात बहुत दक़ियानूस और घामड़पने की सुनायी पड़े ।

शायद है भी, मगर सच है । लेकिन कोई जरूरी नहीं कि दूसरा भी इसको सच माने और न हमारा ऐसा कोई आग्रह है ।

और न हमने सहज कहानी के नाम से एक नया आंदोलन शुरू करने के ख़याल से यह चर्चा छेड़ी है । हमें तो बस अच्छी, प्राणवान्, सरस, सशक्त कहानी से मतलब है । लिखनेवाले अच्छी-से-अच्छी कहानियाँ लिखें और पढ़नेवालों को अच्छी-से-अच्छी कहानियाँ पढ़ने को मिलें । कहानी को नयी कहानी और सचेतन कहानी और अकहानी आदि के चौखटों से न कुछ मतलब है और न हम उसे इस तरह के किसी चौखटे में रखकर देखना चाहते हैं । हमारे लिए कहानी की एक ही कसौटी है — कि वह कुछ कहती है । कहने का अंदाज कुछ भी हो, उसकी सकत का इम्तहान इसी एक बात में है कि वह हमसे कुछ कहे, हमें हँसा सके, रुला सके, जीवन के हमारे साक्षात्कार को और भी गहरा, और भी पैना कर सके,हमारे रागबोध को और भी समृद्ध कर सके, हमारी संवेदनाओं को और भी सूक्ष्म, और भी मर्मग्राही बना सके, सामान्य जीवन के स्तर को एक और भी परिष्कृत मानसिकता दे सके, हमारे दिल-दिमाग को झँझोड़कर हमें फिर से अपना दिल टटोलने और फिर से सोचने के लिए मजबूर कर सके । कोई कहानी ये सब काम एक साथ नहीं कर सकती; कोई कहानी एक काम करती है कोई कहानी दूसरा । इसी में कहानियों और कहानीकारों की विविधता है । कोई कैसे, शिल्प के अपने किस चमत्कार से, अपना काम कर ले जाता है, इससे साधारण पाठक को बहस नहीं — और गम्भीर पाठक के लिए भी वह बाद में ही सोचने-समझने की चीज है । पहली बात यह है कि जो तैयार वस्तु कहानी के नाम से या कहानी के जामे में या कहानी के एक प्रकार के रूप में उसके सामने पेश की जा रही है उसका आस्वाद कैसा है । इस दिशा में जो कहानीकार जैसा चाहे जितना चाहे प्रयोग करे, कोई उसका हाथ पकड़ने नहीं जाता, उसको पूरी-पूरी छूट है । कहानी कोई नयी बात कहे, उस नयी बात को कहने के लिए नये शिल्प के प्रयोग करे, इसमें झगड़ा कहाँ है — और सच तो यह है कि हर सार्थक अच्छी कहानी शिल्प का एक नया प्रयोग भी होती है क्योंकि शिल्प कथ्य से अलग नहीं है (वही बाबा आदम के वक्त की पुरानी बात, वाक् और अर्थ के संपृक्त होने

की, जो कालिदास ने कही !) और अपने सार्थक शिल्प के बिना वह कहानी इतने अच्छे ढंग से कही न जा सकती थी और जब आप उसको एक सार्थक और अच्छी कहानी कहकर पहचान रहे हैं तब आप उसके कथ्य के साथ-साथ उसके शिल्प को भी मान्यता दे रहे हैं, भले आपको इसकी चेतना न हो और भले स्वयं कहानीकार को इसकी चेतना न हो ।

कहानी जब हृदयग्राहिता की इस सहज कसौटी पर अनुत्तीर्ण होती है तभी अपने को मनवाने के लिए, उदासीन दर्शकों को भरमाने के लिए बहुरूपियों के जैसे नये-नये रूप भरने पड़ते हैं — कोई एक नाम की कहानी लिये चला आ रहा है, कोई दूसरे नाम की कहानी लिये चला आ रहा है, कोई अपने नये शिल्प का ढिंढोरा पीट रहा है और कोई कहानी की अपनी नयी भाषा का। अच्छी सार्थक कहानी की कुछ नयी कसौटियाँ ठोंक-पीटकर खड़ी की जाती हैं, कहानी-चर्चा के लिए एक नयी संध्या भाषा का आविष्कार किया जाता है, पश्चिम के किसी बड़े नाम के स्मरण के साथ आये दिन कहानी के संबंध में एक किसी नये वेद-मंत्र का पाठ किया जाता है ...

इसके दो ही नतीजे हो सकते थे — एक तो यह कि पाठकों की कहानी-रुचि ऐसी बदल जाती कि नयेपन और आधुनिकता के नाम पर उसी तरह की उलझी हुई, कुहरे में लिपटी हुई, एकरस और गँठीली कहानियाँ उनको पसन्द आने लगतीं, और दूसरा यह कि नये-नये लिखनेवालों की टोलियाँ बड़ी संख्या में ऐसी ही कहानियाँ लिखने की ओर प्रवृत्त होतीं। हमें खुशी है कि दोनों ही स्तरों पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। पाठक खूब सजग हैं और अब भी, पहले ही की तरह, प्राणवान् और मर्मस्पर्शी कहानियाँ पसंद करते हैं और नये कहानीकारों की विशाल संख्या संसार के श्रेष्ठतम कथाकारों की परंपरा में अब भी वैसे ही जीवनधर्मी-समाजधर्मी कहानियाँ लिख रही है।

जिसका मतलब यह नहीं है कि हम कहानी में पुराने के समर्थक हैं। नहीं, हम भी नयेपन के हामी हैं, पर उस अंधे अनुकरणमूलक नयेपन के नहीं जो अपने दिक्काल से उखड़ा हुआ है, उस सहज नयेपन के जो हम जानें या न जानें, चाहें या न चाहें, अनुदिन-अनुक्षण बदलते हुए जीवन और समाज का सहज धर्म है, जिसके पीछे हमारे देश-काल का साक्ष्य है और जो हमारी सहज मानसिकता का अंग बन सका है।

सहजता की परिभाषा कठिन है क्योंकि उसके उतने ही आयाम हैं, उतने ही कोण, जितने जीवन के। मोटे रूप में इतना ही कह सकते हैं कि सहज वह है जिसमें आडंबर नहीं है, बनावट नहीं है, ओढ़ा हुआ मैनरिज्म या मुद्रा-दोष

नहीं है, आइने के सामने खड़े होकर आत्म-रति के भाव से अपने ही अंग-प्रत्यंग को अलग-अलग कोणों से निहारते रहने का प्रबल मोह नहीं है, किसी का अंधानुकरण नहीं है।

कुछ नये कहानीकारों में दिखायी पड़नेवाली यह प्रवृत्ति चिन्ता का विषय भले हो (और केवल समाज की दृष्टि से नहीं, कहानीकार के रूप में उनके स्वाभाविक विकास की दृष्टि से भी) लेकिन अकारण उसको नहीं कह सकते। सोचने की बात है कि जिस नये कहानीकार की उम्र आज पच्चीस या सत्ताइस या तीस साल है, उसने जब से होश सँभाला तब से समाज का कैसा रूप देखा, कैसे लोगों को चढ़ते और कैसे लोगों को गिरते देखा, कैसे लोगों को हवेलियों पर हवेलियाँ खड़ी करते और कैसे लोगों को समाज में पुजते और कैसे लोगों को किसी घूर पर एड़ियाँ रगड़ते देखा, उठते-बैठते, सोते-जागते अखबारों के पन्नों में और भाषण के मंचों से ढोंग और ढकोसले की कैसी-कैसी रंग-बिरंगी रेशमी चादरें बुनी जाते देखा, महत् जनों की कथनी और करनी में कैसा आकाश-पाताल का अंतर देखा, व्यवहार में समाज के किन नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित होते देखा। किसी ने खुद अपने बाप या बड़े भाई की बेलाग ईमानदारी के चलते अपने घर को उजड़ते देखा, किसी ने पास-पड़ोस के किसी चाचा-ताऊ को, किसी ने अपने गाँव या कस्बे या शहर के किसी जाने-माने आदमी को जो अपने को बेचना गवारा करता तो जाने कितने महल खड़े कर लेता मगर जिसे यह बात मंजूर न थी और जो अपनी इसी टेक के पीछे बर्बाद हो गया।

आजादी के इन इक्कीस बरसों में जिस तरह की दुनिया हमने गढ़कर खड़ी की है, जैसी इश्तहारबाजी की दुनिया, धोखे और फरेब की दुनिया, बड़ी-बड़ी बातों के धाँधे में अपना कोई उल्लू सीधा करने की दुनिया, समाजवाद और लोकमंगल के नाम पर पचास करोड़ के इस देश में बड़े-बड़े कुल दो सौ धन्नासेठों की इजारेदारी की दुनिया — और फिर ऐसी अंधेरनगरी में ऊपर से नीचे को रिस-रिस कर छन-छनकर आता हुआ और तह पर तह तलहटी में जमता हुआ वह सारा जहर एक सड़े-गले समाज के भ्रष्ट नैतिक मूल्यों का, जिसके बीच हम आप रहते हैं और जिसे अपनी साँस के साथ पीते हैं, एक ऐसी औंधी दुनिया में जिसमें या तो सारी ताकत सिर्फ जिन्दा रहे आने में, नून-तेल-लकड़ी जुटाने में ही छीज जाती है या फिर दूसरा भी महाजनों के दिखाये हुए इसी सफलता के रास्ते पर जाल-बट्टा धक्का-मुक्की करता चल पड़ता है, आत्मा और विवेक को कूड़ा-कर्कट समझकर या फिर जड़ाऊ गहना समझकर जो इस्तेमाल की चीज नहीं

है (कूड़ा-कर्कट समझो या जड़ाऊ गहना, बात वही है !) — और नतीजा वह हिन्दुस्तान है जो हमारी आँखों के आगे खड़ा है ।

फिर अचरज कैसा अगर वह नया लेखक जिसने अपने देश में अपने आस-पास, जब से आँख खोली दूसरा कुछ देखा नहीं जाना नहीं, इसी को जीवन का एकमात्र सत्य मान बैठे और बाकी सबको ढकोसलेबाजी कुछ मक्कार लोगों की या फिर फेनिल उच्छ्‌वास कुछ सावन के अंधों का जिन्हें सब कुछ हरा ही हरा दिखायी पड़ता है ।

और फिर, करेला और नीम चढ़ा, बाहर से आनेवाला वह ढेरों साहित्य जो आदमी को जानवर की शकल में पेश करता है और इसी को अपने नये दर्शन और नये सौंदर्यबोध की उपलब्धि मानता है । यह कौन सी ऐसी बड़ी नयी उपलब्धि है, समझना कठिन है, क्योंकि हजारों बरस पहले से यह बात साहित्य के अंदर चली आ रही है कि आदमी आधा हिस्सा जानवर ही है — मगर हाँ, उसके साथ ही इतना और भी कि शेष आधा अंश उसमें देवत्व का होता है । इसी शेष आधे अंश को एक सिरे से उड़ाकर आदमी को पूरे का पूरा जानवर बना देना अगर इस नये दर्शन और सौंदर्यबोध की नयी उपलब्धि हो तो और बात है । लेकिन तब भी यह शंका रह जाती है कि क्या इस स्थापना के पीछे सत्य का बल है ? क्या हमारा जीवन-अनुभव इसका साक्ष्य देता है ? ऐसे प्रश्नों का अंतिम समाधान सदा व्यक्ति को स्वयं ही खोजना पड़ता है और जीवन में ऐसे अवसर बार-बार आते हैं जब इस तरह के मौलिक प्रश्न हमसे अपना समाधान माँगते हैं और हम भरसक उनका समाधान करते हैं, अपने बाहर की दुनिया के अनुभव के आधार पर और अपने भीतर की दुनिया की अनुभूति के आधार पर । औरों की बात मैं नहीं जानता, मैं इन दोनों ही आधारों पर किसी तरह आदमी को सर्वांग पशु नहीं मान पाता, मेरे लिए उसके दोनों ही तत्व समान रूप से सत्य हैं और मैं उन कारणों की खोज करना चाहता हूँ जिनके चलते उसका कभी एक और कभी दूसरा तत्व उभर आता है । मैं समझता हूँ कि यह खोज व्यक्ति से बाहर उस समाज में भी होनी चाहिए जिसका कि व्यक्ति अंग है, तभी कमोबेश ठीक तसवीर सामने आयेगी, वर्ना गुत्थियाँ गुत्थियाँ ही रह जायेंगी । लेकिन यह मेरी बात है, एक व्यक्ति की; कोई जरूरी नहीं कि मेरी धारणा ठीक हो । संभव है कि मेरी आस्था एक भ्रान्ति हो । लेकिन जब तक मेरी ऐसी आस्था है तब तक मेरे लिए वही सहज है । और उसी को रूपायित करना मेरा कविधर्म है क्योंकि उसी में मेरे सर्जक व्यक्तित्व को अपना महत् नहीं तो कम-से-कम सच्चा स्वर मिल सकता है और उससे इतर कुछ

भी लिखना मेरे लिए अपने को झुठलाना होगा। दूसरे रचनाकार को अपने जीवन-अनुभव और अपने भीतर के सत्यबोध के आधार पर बिलकुल दूसरी ही चीज, कठोर अनास्था का स्वर, अपने लिए सहज और स्वाभाविक जान पड़ सकता है। मैं इस संभावना से इन्कार नहीं करना चाहता। अगर ऐसी बात हो तो उस रचनाकार के लिए वैसी ही रचना करना उसका कविधर्म है क्योंकि उसी में वह अपने को सच्ची तरह उजागर कर सकेगा और दूसरा कुछ लिखना उसके लिए अपने को झुठलाना होगा। लेकिन यहाँ पर दो-तीन बातें याद रखने की हैं। एक तो यह कि रचना सच्ची है या झूठी, इसका साक्षी केवल रचनाकार नहीं है कि वह खुद ही अपनी सच्चाई की मुहर उस पर लगाकर मामले को रफा-दफा कर दे — उसका दूसरा साक्षी पाठक होता है, जो रचना का आस्वाद लेता है, जिससे रचना स्वयं अपने रहस्यमय ढंग से अपने झूठ-सच का सब कच्चा चिट्ठा कह जाती है। यही असल पकड़ की जगह है और अक्सर यहीं पर मामले का अंतिम निर्णय होता है। दूसरी बात थोड़ी सी एक सावधानी बरतने की है। लंबे अभ्यास से, एकांगी अध्ययन से, एकांगी चर्चाओं से, रचना-इतर प्रेरणाओं से संचालित होकर, रचनाकार के सहज सर्जक व्यक्तित्व पर एक छद्म-सर्जक व्यक्तित्व भी आरोपित किया जा सकता है, ऐसा बहुधा देखने में आता है। यह एक तरह की मानसिक कंडिशनिंग या अनुकूलन है जिसमें रचनाकार के रिफ्लेक्सेज अर्थात् संवेदना-प्रक्रिया एक विशेष प्रकार से एक विशेष दिशा में, किन्हीं विशेष वस्तुओं को लेकर चालित होने लगती है। जिस अर्थ में रचनाकार का भी, किसी दूसरे व्यक्ति के समान, सीमित ही व्यक्तित्व होता है, इस चीज से बचा भी नहीं जा सकता। लेकिन बचने का उद्योग जिस चीज से होना चाहिए वह है रचनाकार-मन का किसी एक ढाँचे में इस तरह रूढ़ होकर ढल जाना कि उसके बाहर की दुनिया ही मिट जाये, दूसरी सब रचना-प्रेरणाएँ सूख जायें। रचनाकार के लिए यह कोई शुभ स्थिति नहीं है। उसकी संवेदना का फलक जितना ही विस्तृत होगा उसकी रचना में उतनी ही ताजगी और उतनी ही विविधता मिलेगी। इस तरह से अपने को किन्हीं घेरों में बाँध लेना अंततः उसको ही दरिद्र बनाता है। जीवन के जहाँ असंख्य कोण हैं वहाँ रचनाकार किसी एक कोण को ही लेकर क्यों बैठे? क्यों अपने उस छोटे से साँचे के बाहर की हर चीज उसके लिए मिट जाये? क्यों बराबर वह एक ही चर्वितचर्वण करता रहे? यह तभी होता है जब रचनाकार आँखों पर एक खास चश्मा चढ़ा लेता है और सहज नहीं रह जाता। सहज रचनाकार वह है जो सहज मुक्त भाव से जीवन के मैदानों और

गलियों में विचरता है और वैसी ही उन्मुक्त संवेदनाओं से जीवन के प्रति रिऐक्ट करके सहज भाव से लिखता है, जहाँ उसकी एक प्रतिश्रुति अपने रचनाकार मन के प्रति और दूसरी रचना-वस्तु की आत्मा के प्रति होती है। तीसरी चीज से उसे मतलब नहीं क्योंकि उसे विश्वास रहता है कि अगर ये दोनों चीजें सध गयीं तो रचना अच्छी उतरेगी ही और उसका रसज्ञ पाठक भी मिलेगा ही।

हमारे इस वक्तव्य को लेकर यहाँ-वहाँ कुछ थोड़े से लोगों ने आपसी बातचीत में या दो-एक लघुपत्रिकाओं ने ऐसी कुछ शंका प्रकट की है कि हम 'सहज कहानी' के नाम से कोई नया कहानी आन्दोलन छेड़ना चाहते हैं। उन सभी बंधुओं से विनम्र निवेदन है कि हमारा ऐसा कोई विचार नहीं है। विचार ही नहीं, इच्छा भी नहीं है। साहित्य में आंदोलनों की आजकल यों ही इतनी भरमार है कि जीना मुहाल है। सबेरे अखबार खोलते ही जैसे कहीं न कहीं गाड़ी के लड़ने या उलटने की खबर जरूर मिलती है वैसे ही हर लघुपत्रिका खोलते ही एक नये आंदोलन का झंडा फरफराता दिखायी पड़ता है। आंदोलनकारियों की उस भीड़ में अपना एक नया झंडा लेकर जा खड़े होने की हमारी कोई अभिलाषा नहीं है। पहले भी हम इस बात को कह चुके हैं, फिर भी अगर कुछ लोग हमारी बात का गलत मतलब लगाना ही चाहते हैं तो उससे यही समझना चाहिए कि उन्हें हमारी बातों से कहीं कुछ कष्ट पहुँच रहा है और हम कुछ भी कहें उसका गलत मतलब लगाया ही जायेगा। एक बार हमारे जी में यह भी आया कि 'सहज कहानी' की चर्चा को अब यहीं समाप्त कर दें, क्यों किसी को कुछ भी कहने का मौका दिया जाय। लेकिन हमने फिर सोचा तो समझ में आया कि दो-चार लोगों के अपप्रचार से डरकर एक अच्छी-भली चर्चा को, जिसे आम पाठक और दल-मुक्त नये कहानीकार इतना ज्यादा पसंद कर रहे हैं, समाप्त कर देना अन्याय होगा — हम कोई मर्यादा पुरुषोत्तम राम तो हैं नहीं जिन्होंने एक धोबी के कुत्सित प्रचार से डरकर सीताजी को जंगल में पटील दिया! और फिर इसी की क्या गारंटी है कि ऐसा करने से उन लोगों की जबानें बंद हो जायेंगी? दोषारोपण करने वाले का मुँह आज तक कोई नहीं बंद कर सका है। ऐसे में यही ठीक है कि अपनी बात बेधड़क कही जाय, जिसको जहाँ चोट लगेगी वह आप अपनी चोट जैसे चाहे सहला लेगा! पहलू बचाकर बात करनेवाला सारी उम्र पहलू बचाते-बचाते खुद भी बेपेंदी का लोटा हो जाता है। वह अपने बस का रोग नहीं। वैसे हम फिर यह कह दें कि 'सहज कहानी' कोई नारा नहीं है और न जैसा किसी लघुपत्रिका के

किसी विद्वान् समीक्षक ने लिखा है, उसे किसी की 'सहज कविता' से कुछ भी लेना-देना है। हमने इस शीर्षक के अन्तर्गत अपनी बात कहना इसलिए पसंद किया कि कहानी के बारे में, जीवन और समाज के बारे में, हम जितनी सब बातें समेटकर कहना चाहते हैं उनके लिए इससे अच्छा दूसरा कोई शीर्षक हमें नहीं सूझा।

यहाँ पर एक सवाल यह भी किया जा सकता है कि संपादकीय में इतनी सब बातें कहने की जरूरत भी क्या है, कहानियाँ मँगाइए और छापिए जैसे दूसरे सब करते हैं! दुर्भाग्यवश, हम ऐसा नहीं सोचते। वह पत्र के संपादन का एक निरा व्यावसायिक दृष्टिकोण है जिससे हमारा कम ही मेल है — और 'नई कहानियाँ' उस अर्थ में निरा व्यावसायिक कहानी-पत्र नहीं है जैसे हमारे दूसरे कुछ सहयोगी हो सकते हैं। हम समझते हैं कि संपादकीय कर्म के दो स्तर हैं — एक तो जो लिखा जा रहा है उसमें से श्रेष्ठतम रचनाओं का संकलन करके उन्हें पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना और दूसरे जो लेखन की क्रिया है उसमें अपनी ओर से योगदान करना विनम्रतापूर्वक अपना समुचित अंश ग्रहण करना, जिसमें और भी अच्छा लिखा जाय, साहित्य की और भी श्रीवृद्धि हो। संप्रति कहानी पत्रिकाओं की जो स्थिति है उसमें इन दोनों ही स्तरों पर काफी कमी है। कुछ पत्रिकाएँ ऐसी हैं जिनके पास चुनने का समय नहीं है और जो आँख मूँदकर कुछ भी छाप देती हैं और कुछ पत्रिकाएँ ऐसी हैं जो चुनती तो हैं पर चीजें नहीं चुनतीं, कुछ जाने-माने नाम चुनती हैं या फिर अपनी टोली और अपनी संकीर्ण मतवादी दृष्टि के लोगों को चुनती हैं, बाकियों से उनको मतलब नहीं, कोई कितना ही अच्छा लिखे। ऐसी स्थिति में हमको यह आवश्यक जान पड़ा कि हम कहानियों के अपने चयन को तो अपनी बात कहने ही दें, साथ ही अपने संपादकीय वक्तव्य में भी स्पष्ट रूप से कहें कि हम कहानी के बारे में क्या सोचते हैं, कैसी कहानी को अच्छा और कैसी कहानी को घटिया समझते हैं, कहानी की भाषा के बारे में हमारे क्या विचार हैं, जीवन और समाज के संबंध में हमारी दृष्टि क्या है, सम-सामयिकता से हम क्या समझते हैं, आधुनिकता को हम किस रूप में देखते हैं, कहानी के प्रयोगों और कहानी की परंपरा को हम किस प्रकार अन्तर्ग्रंथित रूप में देखते हैं, और ऐसे ही दूसरे प्रश्नों के बारे में जो हम सभी को तंग करते हैं हमारा सोचने का ढंग क्या है — ताकि अपने पाठकों और लेखकों से हमारा निकटतर संपर्क स्थापित हो सके, इसलिए नहीं कि हमारी सब बातें सब लोग सुनते ही मान लेंगे, कि जैसे कोई अवतारी पुरुष बोल रहा है, बल्कि इसलिए कि

बातचीत करने से दृष्टि में जो स्वच्छता आती है वह सभी के लिए उपादेय होगी और सभी को अपने रचनाकर्म का परिप्रेक्ष्य कुछ और खुलता हुआ दिखायी पड़ेगा। हमें विश्वास है कि इसी की चर्चा के माध्यम से यह बात भी आप से आप साफ होकर सामने आ जायगी कि हमारी कोई टोली या संप्रदाय नहीं है, पीढ़ियों का वर्गीकरण हमें नितान्त अमान्य है; कथ्य और शिल्प की भी हमारी कोई संकीर्ण दृष्टि नहीं है जो एक को अपनाती है तो सौ का तिरस्कार करती है क्योंकि वे उसकी दूषित कसौटी पर खरे नहीं उतरते, या फिर अपनी संपादकीय कुर्सी का अनुचित लाभ उठाकर लोगों को बाध्य करती है कि वे भी उसी तरह की ऊब और घुटन की या सेक्स की तथाकथित 'बोल्ड' कहानियाँ लिखें जिसे वे पसन्द करते हैं। ये सब खेल-तमाशा पिछले दिनों हुआ है और बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है, लेकिन हमें इतने ही महीनों के अपने संपादकीय अनुभव में यह देखकर बड़ी हार्दिक प्रसन्नता हुई है, और हमारे लिए यह एक सुखद आश्चर्य था, कि थोड़े से यश-लोलुप (यशःकामी नहीं, यशःकामी तो सभी होते हैं) लोगों को छोड़कर जिनकी अधिकतर ऊर्जा साहित्य-सृजन में न लगकर साहित्य की राज-नीति में लगती है, शेष सभी सहज होकर लिखते हैं और उनकी रचनाओं में उन्हीं की सच्ची संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ बोलती हैं जिनके मूल में उनका अपना जीवन-अनुभव है, जो कुछ उन्होंने खुद देखा है सुना है सहा है भोगा है, जो कुछ उन पर या उनके आत्मीयजनों में किसी पर बीती है। यह ठीक है कि सब कहानियाँ या अच्छा लिखनेवालों की सब कहानियाँ अच्छी नहीं उतरतीं। उतर भी नहीं सकतीं। उनमें से कितने ही लिखना सीख रहे हैं, एक कहानी कलम से अच्छी निकल जाती है, फिर पाँच कहानियाँ नहीं निकलतीं। मगर उससे कुछ नहीं आता-जाता। भविष्य उन्हीं सहज लिखनेवालों का है। नक्कालों का कोई भविष्य नहीं है क्योंकि वे आज एक की नकल करते हैं, कल फैशन बदलने पर किसी दूसरे की नकल करेंगे, और इसी तरह नकल करते-करते चुक जायेंगे, चुक गये हैं। दूर जाने की जरूरत नहीं पिछले दस-पंद्रह बरसों पर ही नजर डाल जाइए, ढेरों ऐसे लोग मिल जायेंगे। सभी ज्ञान और दर्शन के समान और नृत्य-संगीत-चित्रकला-मूर्तिकला आदि के समान साहित्य भी अपने भीतर के सत्य, चैतन्य और आनंद की ही अभिव्यक्ति है; अपने उस एकान्त सत्, चित् और आनंद रूप को पाने, उसका साक्षात्कार करने का ही माध्यम है। वह हमारा ही अनाविल रूप है पर वह क्या है, सृष्टि के आदि से आज तक आदमी उसी को जानने में लगा है और जान नहीं पाया है और शायद किसी दिन जान भी नहीं पायेगा। पर जान पाये या न जान पाये, जिज्ञासा तो है। मन की सब

स्फूर्ति उसी जिज्ञासा में है। कहीं पहुँचने की हड़बड़ी न हो तो यात्रा का भी अपना सुख होता है। इस अपने भीतर के सत्य या चैतन्य या आनंद को जानने-समझने के लिए ही आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है। आत्म-साक्षात्कार सबसे पहले सहजता की माँग करता है। सहज हुए बिना आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। ओढ़ी हुई मानसिकता से तुम अपने को क्या समझोगे ? अपने मन को जगाओ। अपने भीतर देखो, अपने आस-पास देखो, और चलो जहाँ तक, जिन-जिन गलियों-बाजारों, राहों-दुराहों-तिराहों-गोरखधंधों, नदी-नालों, जंगल-पहाड़ों के बीच होकर वह तुम्हें ले जाता है। वही लेखक की यात्रा है और उस यात्रा का सुख, रचना-कर्म का सुख — अपरिचित वन-प्रान्तर में घूमने-फिरने का, जहाँ महत्व पहुँचने का नहीं, चलते रहने का है, पहुँचा तो कोई कहीं नहीं।

रचना का अंतिम सुख यही है कि रचनाकार उसमें अपने को अभिव्यक्ति दे रहा है — इसलिए भी कि वह दूसरे से अपनी कोई बात कहना चाहता है और इसलिए भी कि अपनी संवेदनाओं को शब्दों में ढालकर वह अपने को ही और भी पास से, और भी गहराई से देखना और पहचानना चाहता है। हम यह कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं, बहुत पुरानी बात है, और हर सार्थक रचनाकार इसकी सच्चाई को अपने भीतर अनुभव करता है। इसलिए शायद इसको कहने की जरूरत भी न होनी चाहिए थी। मगर है। इसलिए कि पिछले दिनों रचनाकार की सहज साहित्य-चेतना को कभी नये शिल्प के नाम पर और कभी आधुनिक भाव-बोध के नाम पर भटकाने का बड़ा विपुल आयोजन किया गया है और आज भी किया जा रहा है। उसने और जो कुछ अनिष्ट किया हो या न किया हो, इतना अनिष्ट तो निश्चय ही किया है कि बहुत से नये कहानी-कारों के मन में एक विचित्र सी ग्रंथि डाल दी है — कहीं मैं ऐसा कुछ तो नहीं लिख रहा हूँ जो बिलकुल अन-आधुनिक है ! कहीं मेरा शिल्प पुरातनगंधी तो नहीं है ! लोग मेरी कहानी को बासी-तिवासी कहकर घूर पर तो नहीं फेंक देंगे ! नयी हवा को अपने फेफड़े में भर लूँ, नये भावबोध को पूरी तरह अपना लूँ, सार्त्र-कामू-काफ्का-किर्केगार्द को पढ़ लूँ, नये शिल्प को करायत्त कर लूँ, लंदन-पैरिस-न्यूयार्क-मेक्सिको-तोकियो-ग्रिनिच विलेज में इस समय क्या लिखा जा रहा है इसको देख-समझ लूँ — तो लिखूँ ! ...

यही चिन्ता उसे असहज लेखन की ओर प्रवृत्त करती है, कि जैसे उसे अपने होने की प्रामाणिकता में, अपने बोध और अपनी संवेदना की प्रामाणिकता में, अपने अनुभव और अपनी अनुभूति की प्रामाणिकता में विश्वास ही न रह गया हो। यहीं से अ-मौलिक, अ-प्रामाणिक, अ-सहज, नितान्त अनुकरणमूलक लेखन

की शुरुआत होती है और रचनाकार का अपना सहज बोध और अपनी सहज संवेदनाएँ मुमूर्षु होने लगती हैं क्योंकि उसकी आँखें अपने भीतर, अपने आस-पास, अपने देश-काल को न देखकर उन दूर-दराज 'आधुनिक भावबोध के केन्द्रों' पर लगी रहती हैं। हम यह नहीं कहते कि नया से नया जो कुछ लिखा जा रहा है, कविता-कहानी-नाटक, उसको पढ़ा न जाय। पढ़ा जाय और जरूर पढ़ा जाय लेकिन इतने समर्पित भाव से न पढ़ा जाय कि अपनी प्रतीति, अपने बोध, अपने विवेक, अपने देश-काल की अपनी समझ को छुट्टी दे दी जाय या सस्पेंड कर दिया जाय। यह न तो आधुनिक बनने का रास्ता है और न श्रेष्ठ साहित्य-सृजन का रास्ता है। हम कई ऐसे नये रचनाकारों को जानते हैं जो एक ओर तो आधुनिकतम भावबोध-संपन्न समझे जाते हैं और दूसरी ओर हर मंगल को हनुमानजी के मंदिर में लड्डू चढ़ाने जाते हैं! नक्कालों की (ओढ़ी हुई) आधुनिकता ऐसी ही होती है। उसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है।

सहज कहानी की चर्चा करके हम अपने लिखनेवालों से यही कहना चाहते रहे हैं कि अपने भीतर पैठकर अपने मन की सच्ची प्रेरणा से लिखिए, रचना अच्छी उतरी या नहीं उतरी इसकी सनद के लिए अपने बाहर इस पंडे और उस पुरोहित की ओर नहीं अपने भीतर देखिए, अध्ययन-मनन से आप अपने भीतर स्वयं ऐसे एक आलोचक का निर्माण कर लेंगे जो आपको बता देगा कि आपकी चीज जैसी बननी चाहिए थी बनी या नहीं बनी। सहज कहानी की चर्चा से हमारा यही मतलब है कि हर आदमी मौलिक है, विशिष्ट है, उसने जो कुछ देखा है या सहा है और जिस रूप में देखा है और सहा है उसका अपना विशिष्ट मूल्य है। जिस भी रचना पर उसकी अपनी अनुभूति और संवेदना का स्वाक्षर है वह साहित्य के लिए मूल्यवान् है अगर उसे अपने अनुरूप शिल्प भी मिल सका है। यह कोई नहीं कहता कि संवेदना की सच्चाई मात्र से महत् साहित्य की सृष्टि हो जाती है, पर उसका रास्ता वही है क्योंकि जो भी महत् सृष्टि होती है उसके लिए संवेदना की सच्चाई जरूरी शर्त है। यह ठीक है कि बार-बार के सजेशन और ऑटोसजेशन से रचनाकार अपने भीतर एक प्रकार की छद्म-चेतना की भी सृष्टि कर सकता है जिसको ही वह सच समझने लगता है। जो हो, रचना के स्तर पर यह बात छिपती नहीं और हम यही कह सकते हैं कि उसकी ओर से सावधान रहने की जरूरत है।

हम यह मानते हैं कि आज दुनिया की, और सबसे ज्यादा खुद हमारे देश की, स्थिति अनेक रूपों में, अनेक स्तरों पर, अत्यंत जटिल है। इसीलिए तो उसको और भी बारीकी से, और भी गहराई से, और भी समग्र रूप में देखने-

समझने की जरूरत है। यह समझना कि उन जटिल स्थितियों को उसी तरह की कुछ जटिल रेखाओं या शब्दों का आकार दे देना अनुरूप कला या साहित्य की सृष्टि करना है, बहुत बड़ी भूल है। जटिल को बोध और संवेदना के स्तर पर सहज करके समझने और ग्रहण करने की और फिर उसे उसी सहज रूप में साहित्य में ढालने की प्रक्रिया निश्चय ही अत्यंत जटिल है पर सार्थक और मार्मिक साहित्य-सृष्टि उसके बिना नहीं हो सकती, और रचना का आस्वादन करते समय पाठक को आपकी जटिल प्रक्रिया से या उस जटिल कच्चे माल से प्रयोजन नहीं होता, उस सहज कहानी से होता है जो आपके भीतर ढलकर बाहर आयी है। उदाहरण के लिए, आज देश में बहुत कुछ हो रहा है, बल्कि सभी कुछ हो रहा है, जिससे सहज ही मन में भयानक क्षोभ जागता है। लेकिन यह क्षोभ अपने आप में कहानी नहीं है कि इसे ज्यों का त्यों कागज पर उतार दिया जाय, जैसे कि कुछ कहानीकार कर रहे हैं। इस नामहीन, रूपहीन क्षोभ को नाम देना होगा, रूप देना होगा, समझना होगा, उसके पूर्वापर को एक समग्र बोध की शृंखला में रखकर देखना होगा, तब कहीं कहानी बनेगी, कम से कम, कहानी की जमीन बनेगी — और तभी यह भटका हुआ, दिशा-हारा विद्रोह सार्थक विद्रोह बन सकेगा। अभी तो यह हवा में डंडे चलाना है। किसी के हाथ में उसकी शकल डंडे की है और किसी के हाथ में कलम की, चीज एक ही है।

कहानी के 'नये भावबोध', 'नयी संवेदना' और 'नये युगबोध' को लेकर पिछले दिनों इतना आडंबर रचा गया है कि आदमी का सिर चकरा जाता है — और पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। इतनी सारी बातें और ऐसी कुहरे में लिपटी हुई भाषा में कही जाती रही हैं कि उनका सिर-पैर समझना मुशकिल है। लेकिन शायद आज की जीवन-स्थितियाँ इतनी ज्यादा उलझी हुई हैं कि उनके दबाव में पड़कर हमारे चिंतन में, हमारी भावस्थितियों में भी उसी तरह के उलझाव का पैदा हो जाना एकदम अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन ऐसी ही उलझी हुई स्थितियों के लिए मनुष्य का अपना स्वतंत्र विवेक है, जिस पर हमने पहले भी बल दिया है। दुनिया में एक से एक बड़े विचारक हुए हैं, आज भी हैं, आगे भी होंगे, लेकिन क्या जरूरी है कि हम किसी की भी बात को बिना परीक्षा किये स्वीकार करें? हम बहुत अल्पमति सही, लेकिन जितनी भी सीमित बुद्धि हमारे पास है, जितना भी सीमित हमारा जीवन-अनुभव है, अपने देश-काल अर्थात् इतिहास और भूगोल की जितनी भी कम या ज्यादा हमारी समझ है, जिस भी काव्य और दर्शन ने जाने-अनजाने

हमारी आत्मा का संस्कार किया है और हमें अपने जीवन के कुछ विशेष मूल्य दिये हैं (सदसद्, उचित-अनुचित का निर्णय करने वाली विवेक-बुद्धि उन सबके योगफल का ही दूसरा नाम है) हम क्यों उसकी कसौटी पर हर बात को नहीं परख सकते, इसकी चिन्ता किये बगैर कि वह बात किसने कही है ? अपने प्रति ऐसा हीनता-बोध क्यों ?

नवलेखन के संदर्भ में 'आधुनिक' भावबोध, 'आधुनिक' संवेदना, 'आधुनिक' युग-बोध आदि को लेकर समय-समय पर अनेक गोष्ठियाँ-संगोष्ठियाँ हुई हैं, ढेरों लेख लिखे गये हैं, कुछ किताबें भी निकल आयी हैं, लेकिन जहाँ तक हमारे देखने में आया है किसी ने उसको परिभाषित नहीं किया। न सही परिभाषा, क्योंकि हर चीज को परिभाषित नहीं किया जा सकता, उस भूमिका को ही स्पष्ट रूप से सामने प्रस्तुत किया जाता जिसमें यह 'आधुनिक' भावबोध इत्यादि उत्पन्न होता है; उसके आकार-प्रकार, रूप-रंग की ही कुछ व्याख्या की जाती जिससे उस चीज को कम से कम पहचाना तो जा सके, मगर वह भी नहीं। फलतः कुछ उनकी व्याख्याओं और कुछ कहानियों को जोड़-बटोरकर— और इस विषय पर अँग्रेजी साहित्य के आधार पर, जहाँ से ही यह 'माल' आयात किया जाता है — उस चीज की एक तसवीर खड़ी करने के अलावा कोई चारा नहीं है। और ऐसा करने पर पता चलता है कि 'आधुनिक भाव-बोध-युगबोध--रागबोध-तत्वबोध' यानी जितने तरह के 'आधुनिक' 'बोध' हैं और जो 'आधुनिक संवेदना' है, उन सबका स्थायीभाव एक ही है, ऊब। यानी बोरडम या उससे भी अधिक अर्थविस्तार लिये हुए सीधे फ्रेंच से अंग्रेजी में आनेवाला शब्द, आन्वी। बड़े मजे की चीज है यह ऊब, इससे बड़ा बहुरूपिया कोई नहीं। साधारण-सी, रोज की जानी-पहचानी ऊब से लेकर हत्या और आत्म-हत्या में पर्यवसित कठिनतम हताशा तक उसका साम्राज्य फैला हुआ है। चीज एक ही है, बस रंग गहरा करते चले जाने की बात है। अपने से ऊबो, अपने माँ-बाप से ऊबो, भाई-बहन से ऊबो, घर से ऊबो, बाहर से ऊबो, सुबह ऊबो शाम ऊबो, बदली ऊबो घाम ऊबो, काम करने से ऊबो, काम न करने से ऊबो — यहाँ तक कि यह ऊब एक दिगंतव्यापी सार्वभौम मितली, बनकर तुम्हारे रंध्र-रंध्र में बस जाये ! इसी ऊब पर जब थोड़ा-सा 'आध्यात्मिक' रंग चढ़ जाता है तब आदमी गाँजे और चरस और मारीहुआना और एल० एस० डी० की टोह में भटकने लगता है। कुछ तो हो जिससे जिंदगी में थोड़ी-सी उद्दीपना आये, थोड़ी-सी ऊब कटे ? ... और फिर इसी उद्दीपना की तलाश में जहाँ गाँजा-

चरस या दूसरा कोई नशा रथ का एक पहिया होता है वहाँ सेक्स उसका दूसरा पहिया होता है और आप अपनी नयी यात्रा पर निकल पड़ते हैं !

लेकिन इस ऊब के बारे में एक बड़ी मजे की बात यह है कि उसे हमेशा एक अनाम-सी धूमिल-सी भावस्थिति बने रहना चाहिए; कभी उसको जानने-समझने की, उसकी जड़ में पहुँचने की, उसको कोई एक नाम देने की, उसको संदर्भित करने की कोशिश न करनी चाहिए क्योंकि उसमें बड़ा खतरा है — यही कि आर्थिक चाहे सामाजिक, एक न एक स्तर पर, किसी न किसी रूप में, वह परिवेश और समाज के संग जुड़ जायगी, उसको कोई एक नाम मिल जायगा, उसकी आध्यात्मिक रहस्यमयता का लोप हो जायगा, रोग का निदान हो जायगा। और ऐसा होते ही वह ऊब फिर 'आधुनिक' ऊब नहीं रह जाती, घटिया और बिलकुल मामूली घिसी-पिटी ऊब हो जाती है जो किसी को भी महसूस हो सकती है !

वैसा ही कुछ हाल सेक्स का है। कौन है दुनिया में जो सेक्स से अछूता है। क्या आदमी क्या औरत और क्या दूसरा कोई जानवर। सबको प्यार की भूख होती है और सबको शरीर की भूख होती है। वही सृष्टि का आधार है। उसके बिना जीवन असंभव है। और यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य में शुरू से लेकर आज तक उसको प्राथमिकता मिली है। तरह-तरह से, अनेकानेक रंगों में, उसका चित्रण हुआ है। लेकिन उस प्यार से और उस सेक्स से 'आधुनिक' मन की तृप्ति नहीं होती, वह 'आधुनिक' सेक्स नहीं है। 'आधुनिक' सेक्स का मतलब है कि उसमें प्रकृति से अधिक विकृति हो। औरत-मर्द तो सदा से एक दूसरे को प्यार करते आये हैं, उसमें कोई नयापन नहीं है। नयापन है समलिंगी मैथुन में, पशुओं के संग मैथुन में, आत्मरति में ! होने को उनमें भी कोई नया-पन नहीं है, कामशास्त्र की पुरानी से पुरानी किताबों में उनका उल्लेख मिल जाता है और अपने अनुभव से भी हम बहुत कुछ देखते-जानते हैं, लेकिन हाँ इतना नयापन जरूर है कि इसके पहले कभी इस चीज को पंथ का रूप नहीं दिया गया ! पर इसका यह मतलब नहीं है कि औरत-मर्द के प्यार से उसको परहेज है, बस इतना है कि उसका जिक्र करते समय वह बार-बार इस बात को रेखांकित कर देना जरूरी समझता है कि औरत-मर्द के प्यार में शरीर की भूख के अलावा कुछ भी नहीं है, उसी एक आदिम वासना की डोर में दोनों बँधे रहते हैं, दूसरी कोई डोर नहीं है, न सहानुभूति, न ममता, न मैत्री, न अन्य किसी चारित्रिक गुण का गहरा आकर्षण और उसमें से पैदा होनेवाला उत्सर्ग या समर्पण का भाव, सब कोरी बातें हैं, धोखा है, वंचना और आत्म-

वंचना ! जाहिर है कि इस रोशनी (या अँधेरे) में बाप-बेटी के प्यार या माँ-बेटे के प्यार या भाई-बहन के प्यार के लिए कोई जगह नहीं रह जाती और इसीलिए कभी कोई उनके बारे में नहीं लिखता और अगर लिखता है तो जैसे भी हो यह दिखाने के लिए कि अन्ततः उनका आधार भी सेक्स ही है !

कोई पूछे इन भलेमानुसों से कि क्या आप सच्चे दिल से ऐसा ही समझते हैं ? क्या यह आपका भोगा हुआ यथार्थ है ? इसके पीछे आपके अपने अनुभव का साक्ष्य है ? ... तो दो टूक जवाब नहीं मिलता, क्योंकि सच्चाई यह है कि बात ऐसी नहीं है, यह महज एक सुनी-सुनायी, पढ़ी-पढ़ायी बात है जिसे इस नौजवान दोस्त ने अपनी बुद्धि और संवेदना की कसौटी पर जाँचने-परखने की जरूरत नहीं समझी क्योंकि उस पर पश्चिम की मुहर है और पश्चिम आधुनिकता का महातीर्थ है और आधुनिक बनने के लिए उसकी हर चीज को बग़ैर कान-पूँछ हिलाये पी लेना जरूरी है ! जब कि असलियत शायद यह है कि यह दृष्टि पश्चिम के सब देशों की नहीं (समाजवादी देशों की तो एकदम नही) और उन कुछ देशों के संपूर्ण जन-समाज की भी नहीं, बल्कि समाज के एक अर्थ-संपन्न अवकाशभोगी ऊपरी स्तर की है या रोगियों की जिन पर मनस्तत्वविदों ने काम किया है या उन लोगों की जिन्होंने उस मूल अर्थ-व्यवस्था पर ही, जिसमें से इस तरह के 'नैतिक' मूल्य निकलते हैं और इस तरह की मानसिकता निकलती है, प्रश्न-चिह्न लगाना जरूरी नहीं समझा और उस व्यवस्था को नियति के समान अटल मानकर उसकी परिधि के भीतर रहते हुए उसकी नैतिक' स्थापनाओं और उस परिवेश की मानसिकता को ज्यों का त्यों ओढ़ लिया है, वैसे ही जैसे हमारे देश के कुछ युवा लेखक मित्रों ने जो अर्थ की दृष्टि से भले निम्न मध्य वर्ग के हों पर मूल्यों के क्षेत्र में इस सड़े-गले महाजनी समाज का झंडा उठाये घूम रहे हैं। पतनशील समाज के पतनशील जीवन-मूल्य। स्वयं उन देशों में इन पतनशील जीवन-मूल्यों के विरोध में संघर्ष करनेवाले तत्व काम कर रहे हैं। उदाहरण के लिए आज जो बुद्धिजीवी और साधारण नागरिक अमरीका की वियतनाम नीति और नीग्रो नीति के खिलाफ आवाज उठा रहे हैं और रोज-ब-रोज बुलन्द होती हुई आवाज में कह रहे हैं कि नीग्रो लोगों के साथ इन्साफ किया जाय और उधर अमरीकी जवानों को वियतनाम से वापस बुला लिया जाय, वे वही लोग हैं जो सामान्य जीवन और संस्कृति के स्तर पर भी अधिक स्वस्थ जीवन-मूल्यों के लिए सचेष्ट हैं। उसी तरह यह भी आकस्मिक नहीं कहा जा सकता कि अभी पिछले दिनों छात्रों, अध्यापकों और अन्य बुद्धि-जीवियों के जिस ज्वालामुखी का विस्फोट पेरिस में हुआ था उसने और बातों

के साथ-साथ महाजनी अर्थ-व्यवस्था के नाश का भी नारा उठाया था। यह सब कुछ हमारी आँखों के सामने हो रहा है। इसीलिए जरूरी है कि बातों को उनके उचित परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाय और समझा जाय कि कौन बात कहाँ से उठ रही है और उसकी सामाजिक भूमिका क्या है। जिसका यह मतलब नहीं कि सत्य पर पर्दा डाला जाय। लेकिन सत्य कभी वैसा एकांगी नहीं होता जैसा बहुत से नवलेखन में दिखायी पड़ता है। जटिल मनः स्थिति का सत्य अपने निरूपण के लिए वैसी ही गहरी, अन्तर्भेदिनी, संश्लिष्ट दृष्टि की भी माँग करता है।

वही हाल टेरर या संत्रास-बोध का है। जिसको देखो वही संत्रास की बातें कर रहा है लेकिन यह कोई नहीं बताता कि कैसा संत्रास, किस बात का संत्रास। यानी वही अरूप-अनाम ऊब के जैसा अरूप-अनाम संत्रास। उसको भी समझने और नाम देने की जरूरत है — यानी अगर जीवन और साहित्य के विकास की अगली राहें खोजनी हैं। पर वैसा करते ही फिर इस बात का डर है कि सामाजिक संदर्भों की बात करनी पड़ेगी और उसमें फिर 'आधुनिकता' की रक्षा न हो पायेगी और आपके साहित्य पर समाजशास्त्रीयता का अभियोग लग जायेगा और समाज को लेकर तो पहले भी कुछ लोग लिख चुके हैं, फिर अपना नितांत आधुनिक वैशिष्ट्य कहाँ रहेगा और समाज से ऊपर बैठकर गहरे सनातन मनस्तत्व की बातें करने की उन्नासिकता कहाँ रहेगी !

लेकिन दुर्भाग्यवश हमारी समझ में इस तरह की बहकी-बहकी उलझी-उलझी चर्चा तेली के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर कोल्हू का चक्कर काटना है जो कहीं नहीं पहुँचता। संत्रास का कोई एक रूप नहीं है। कहीं कोई संत्रास है और कहीं कोई। कहीं भरे पेट का संत्रास है और कहीं खाली पेट का। दोनों एक चीज नहीं है। उनको अलग-अलग देखने-पहचानने की जरूरत है। आत्म-हत्याएँ स्वीडेन में भी खूब होती हैं और हिन्दुस्तान में भी खूब होती हैं पर हिन्दु-स्तान में ज्यादातर जीवन की विषम स्थितियों के कारण होती हैं और स्वीडेन में अधिक से अधिक सुख-सुविधाओं के बावजूद होती हैं और समझने की जरूरत है कि क्यों होती हैं। लेकिन और जो भी बात हो या न हो, इतना तो तय है कि दोनों एक ही चीज नहीं हैं और चीजों को उनके संदर्भ से काटकर देखने की प्रवृत्ति केवल विफलता और भटकाव की ओर ले जा सकती है, जीवन के स्तर पर भी और साहित्य के स्तर पर भी।

सेक्स : आधुनिकता और बीमार 'आधुनिकता'

कुछ नये लोगों की कहानियों में आजकल सेक्स का अभूतपूर्व बोलबाला दिखायी पड़ता है। एक से एक 'बोल्ड' यानी साहसी कहानियाँ लिखी जा रही हैं। कुछ महिलाएँ भी हैं जो इस दौड़ में पुरुषों से एक कदम पीछे नहीं रहना चाहतीं। विवाहेतर यौन सम्बन्धों में तो अब कुछ बचा नहीं, सैकड़ों-हजारों साल से पिटते-पिटते वह तो हलुआ हो गया, अब तो आगे की मंजिलें सर करनी हैं! किसी का ध्यान पशु-मैथुन की ओर जाता है, तो किसी का आत्म-रति की ओर — लेकिन शायद सबसे अधिक महत्ता समलिंगी मैथुन की है, क्योंकि उस गोष्ठी की चर्चाओं में इसी का उल्लेख सबसे अधिक देखने को मिलता है! पुरुषों के समलिंगी सम्बन्धों पर भी कहानियाँ लिखी गयी हैं और स्त्रियों के समलिंगी सम्बन्धों पर भी, जिसका वैज्ञानिक नाम (दो हजार बरस पुराने ग्रीक द्वीप 'लेस्बॉस' के आधार पर जहाँ इस विकृति का बड़ा प्रचलन था) लेस्बियनिज़्म है — और 'आधुनिकता' का यह उन्माद कहीं-कहीं तो इस हद तक भी पहुँचा कि एक जाने-माने पुरुष कहानीकार ने, जो 'भोगे हुए यथार्थ' को ही कहानी का आधार बनाने पर सबसे अधिक बल देते हैं, लेस्बियनिज़्म पर एक कहानी लिख डाली, बिना इसका विचार किये कि कम से कम यह तो उनके लिए वर्जित प्रदेश था! फिर ऐसा आग्रह क्यों? शायद इसलिए कि लेखक दिखाना चाहता है कि वह सबसे ज्यादा 'बोल्ड' होकर लिख सकता है, जो बात लिखने में दूसरे की कलम झिझकेगी वह देखो मैं बिलकुल बेझिझक लिखता हूँ! शायद इसलिए कि वह चाहता है उसकी कहानी चर्चा का विषय बने। देखा गया है कि रचनाकार का विश्वास जब अपनी रचना की आंतरिक शक्ति में खोने लगता है तभी वह इस तरह के दाँव-पेंच इस्तेमाल करता है जिनका उद्देश्य केवल लोगों को चौंकाना होता है। शायद यह तरकीब कुछ दूर तक अपना काम करती भी है — जैसा कि एक सुपरिचित महिला कहानीकार की (जिन्होंने कुछ अच्छी कहानियाँ भी लिखी हैं) पर बहुत ही मामूली कहानी को लेकर होनेवाली या करायी जानेवाली विपुल चर्चा के सन्दर्भ में दिखायी पड़ी, जो शायद इसीलिए चर्चा का विषय बनी या बनायी गयी कि उसमें जगह-जगह गालियों की भरमार थी, जैसी गालियों की अपेक्षा साधारणतः एक महिला की

लेखनी से नहीं की जाती । लेकिन ये सब बाह्य उपकरण हैं जो बहुत देर तक या बहुत दूर तक साथ नहीं देते, और रचनाकार अगर समय रहते न चेता तो सर्जक के रूप में उसकी अकालमृत्यु का कारण बनते हैं । कोई अगर अपने को धोखा न देना चाहता हो तो हम समझते हैं कि लिखने की उम्र बढ़ने के साथ-साथ यह बोध पक्का होता जाता है कि रचना अंततः अपनी शक्ति से ही जीवित रहती है, थूनी-खंभों के बल पर नहीं ।

लेकिन यौन विकृतियों के प्रति 'नवलेखन' के आसक्ति भाव की जड़ें ज्यादा गहरी हैं; चर्चित होने की आकांक्षा उसका एक अंग हो सकता है पर वह कुल बात नहीं है। उससे बड़ी बात शायद यह है कि जिस बीमार समाज में उस नये लेखक ने आँखें खोलीं वही उसके भीतर से बोल रहा है और वह इसी तरह अपनी संज्ञा और विवेक से उपराम होकर (क्योंकि उनको मुमूर्ष करनेवाले तत्वों की भी कमी नहीं है) नितांत निश्चेष्ट भाव से उसी रोगी समाज को और उसके रोगी नैतिक मूल्यों को प्रतिध्वनित कर रहा है — या फिर वे हैं जो कुछ अधिक सचेतन हैं और जिन्होंने सही या गलत शायद यह समझ लिया है कि एस्टैब्लिशमेंट अर्थात् स्थापित समाजतंत्र (जिसके अंतर्गत सभी कुछ आ जाता है — शासनतंत्र, अर्थतंत्र, आचारतंत्र) को तोड़ने का अकेला रास्ता चारों ओर, हर स्तर पर, खलबली या अराजकता फैला देना है, पहले चतुर्दिक् ध्वंस हो जाय फिर शायद इसी 'अनार्की' में से नयी और ज्यादा खूबसूरत या कम बदसूरत दुनिया पैदा होगी ... ऐसे में फिर सेक्स को भद्दे रूप में प्रस्तुत करना भी आक्रोश की, स्थापित समाजतंत्र यानी एस्टैब्लिशमेंट के विरोध या अवज्ञा की, एक मुद्रा बन जाता है । और अगर यह भी नहीं तो फिर मानना होगा कि रचना लेखक की अतृप्त वासना की पूर्ति का माध्यम बन रही है या बनायी जा रही है ।

जो हो, जिस भी कारण से हो, इनमें से एक किसी कारण से हो या सब कुछ मिल-जुलकर हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'आधुनिकता' का फैशन या ग्लैमर उसके संग-संग काम कर रहा होता है । जिसका आधार है पश्चिम से आनेवाला इसी प्रकार का ढेरों साहित्य — जिसमें कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, समाजशास्त्र, मानसशास्त्र आदि सभी के ग्रंथ सम्मिलित हैं — जिसके पीछे एक विराट् प्रचार-यंत्र काम रहा है और जो उसी के जोर पर अपनी ही मान्यताओं को 'आधुनिक' की संज्ञा देकर सारी दुनिया से उनको मनवा लेना चाहता है । सबको पता है कि आदमी भी एक जानवर है लेकिन अगर कोई कहे कि आदमी कोरा जानवर है तो बात जल्दी गले के नीचे नहीं उतरती । बाप-बेटे के संबंध में, और सो भी बेटे के बड़े और कमाऊ होने

पर, पैसे की भी कुछ जगह हो जाती है, लेकिन अगर कोई कहे कि वह केवल पैसे का सम्बन्ध है तो वह बात जल्दी समझ में नहीं आती। वैसे ही, कौन नहीं जानता कि पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध सेक्स का भी सम्बन्ध होता है, लेकिन अगर कोई कहे कि वह सेक्स के सम्बन्ध के अलावा कुछ भी नहीं (नयी अमरीकी शब्दावली में तो 'लव' का अर्थ ही केवल शरीर-संभोग हो गया है !) तो वह बात अपने ही अनुभव और बोध की कसौटी पर खोटी उतरती है। इसी तरह की और भी बातें जो सब साथ-साथ आती हैं (जैसे यही कि सत्य सुविधा के तर्क का ही दूसरा नाम है, और विवेक आत्म-छलना का ही एक प्रकार है) और सिर्फ इसलिए कि वे सुनने में बड़ी तीखी होती हैं, जहर में बुझी होती हैं, उन्हें देखकर अकसर लोगों को धोखा हो जाता है कि वे फेनिल आदर्शवाद से मुक्त, निर्मम यथार्थपरक दृष्टि से संवलित, मानसिक प्रौढ़ता की उपज हैं, जब कि सच्चाई यह है, जिसके हम सभी अपने जीवन-अनुभव से साक्षी हैं, कि जैसी तीखी और जहर में बुझी बातें कच्ची उम्र का नौजवान करता है कोई प्रौढ़ व्यक्ति कभी कर ही नहीं सकता क्योंकि वह चीजों को उस एकांगी ढंग से देख ही नहीं पाता; क्योंकि वह संजीदा ढंग से बातों को तौलकर और हर चीज को उसके ठीक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का आदी हो जाता है; क्योंकि यही मन की प्रौढ़ता की असल निशानी है; क्योंकि सत्य जैसे उस फेनिल आदर्शवाद में नहीं है वैसे ही इस पंकिल स्वनामधन्य यथार्थवाद में भी नहीं है बल्कि दोनों के बीच कहीं, जहाँ जीवन इस सब फेन और इस सब कर्दम को लिये-दिये पानी की तरह बह रहा है। वही उसका सत्य है — अपने संघर्षों के बीच, अपने द्वन्द्व की गति से, अपने तनाव या टेंशन की स्थिति में। कोई कितना ही झुठलाने की कोशिश करे, कितना ही स्वयं अपने को छले, उस सत्य का बोध और बोध नहीं तो उसकी कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त-सी प्रतीति सबके पास होती है, और सार्थक साहित्य का अंतिम समर्पण सदा उसी के प्रति होता है। उसकी आँख में धूल झोंकना अपनी ही आँख में धूल झोंकना है। ... पर इसका यह मतलब नहीं है कि ऐसे जीवन-निष्कर्षों पर पहुँचानेवाली स्थितियाँ और मन:स्थितियाँ होती नहीं। होती हैं और जहाँ सच्ची होती हैं वहाँ अपने उस स्तर पर और उस मर्यादा के भीतर मन को छूती भी हैं और आदमी की और जिन्दगी की समझ को गहरा भी करती हैं। पर जहाँ वे मन:स्थितियाँ ओढ़ी हुई होती हैं वहाँ उनका भरम खुलने में भी देर नहीं लगती क्योंकि रचना स्वयं अपना भरम खोल देती है, और तब संवेदनशील पाठक को चिढ़ मालूम होती है क्योंकि उसे लगता है कि उसको ठगने की कोशिश की जा रही है।

सेक्स को लेकर यह जो तथाकथित 'आधुनिक' दृष्टि है वह भी ऐसी ही पश्चिम से मिली हुई दृष्टि है— एक रोगी समाज की रोगी दृष्टि जो दूसरे रोगी समाज पर आरोपित की जा रही है। उस रोग का नाम कुछ भी हो। दस लोग उसे दस नाम से पुकार सकते हैं। मगर रोग हर हालत में रोग है। हम समझते हैं कि उस रोग का नाम है महाजनी सभ्यता, समाज पर मुट्ठी भर अरबपती और खरबपती धन्नासेठों का राजत्व, वहाँ भी और इस देश में भी। (यह बात और है कि वहाँ के धन्नासेठों की तुलना में यहाँ के धन्नासेठ पिद्दी हैं।) हम समझते हैं कि उसके आधार पर समाज के संगठन, उस संगठन में से निकलनेवाली जीवन-प्रणाली, उस जीवन-प्रणाली के संदर्भ में वहाँ के रहनेवालों की मनोरचना; उस समाज की विषमताएँ, उन विषमताओं में से फूटनेवाली चोरी-डकैती, हत्या और आत्महत्या; नारी के प्रति दूषित दृष्टि अर्थात् उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का सम्मान न करके उसे पुरुष की वासना का खिलौना समझने का भाव और उसी का अधिकाधिक प्रदर्शन और विज्ञापन और प्रचार, और फिर उसमें से फूटनेवाले असंख्य यौन अपराध — इन सभी चीजों को समझा जा सकता है। सब जानते हैं कि डकैती, खून, बलात्कार आदि अपराधों की दृष्टि से अमरीका दुनिया में सबसे आगे है। और अब हमारा देश भी उसी रास्ते पर चल पड़ा है और मोटे रूप में उन्हीं कारणों से। हम समझते हैं कि यह दृष्टि काफी दूर तक रास्ते को साफ कर देती है। लेकिन हमारा ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि दूसरा आदमी इसको माने। किसी को यह दृष्टि एकांगी भी लग सकती है, पूर्वग्रहयुक्त भी लग सकती है, ओवरसिंप्लिफाइड यानी बात को जरूरत से ज्यादा आसान करके समझने-समझानेवाली भी लग सकती है। हमारा कोई झगड़ा उससे नहीं है। लेकिन मुद्दे की बात इसमें इतनी ही है कि वहाँ हो और चाहे हमारे देश में, यह एक रोगी समाज की तसवीर है। चार लोगों के पास अपरंपार धन है, (और समस्त साधन अपनी जीवन-दृष्टि या कुदृष्टि को प्रचारित-प्रसारित करने के) इतना कि वे समझ नहीं पाते कि उसका क्या करें, और करोड़ों लोग हैं जिन्हें कायदे से दो वक्त का खाना जुटना मुहाल है। जिसके पास अपरंपार धन है और उतना ही अवकाश, वह अपने धन को भोगने और अपने अवकाश को भरने के लिए हर शाम एक नयी लड़की को अपने बिस्तर पर बुलाता है और स्कॉच की बोतलों पर बोतलें लुँढाता है। और भी पता नहीं क्या-क्या करता है। जो दरिद्र है वह अपनी खोली में रहता है और जानवर की जिंदगी जीता है, और बेहोश हो जाने के लिए सस्ती से सस्ती दारू पीता है और अपनी बीवी को पीटता है और बच्चों को पीटता है और कभी

कहीं चोरी करता है या फिर किसी दिन रेल के नीचे कटकर मर जाता है। स्पष्ट है कि ऐसे रोगी समाज में से जिसमें भला आदमी सहमा-सहमा फिरता है और गुण्डा सीना तानकर घूमता है; जिसमें सच्चा और ईमानदार आदमी ढंग से जी नहीं सकता, और बेईमान आदमी की पाँचों घी में रहती है — ऐसे रोगी समाज में से जीवन के भ्रष्ट सामाजिक मूल्य अगर निकलते हैं तो उन्हें कम-से-कम अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। लेकिन फिर ऐसे ही समय पर उनसे, जो समझदार हैं, पढ़े-लिखे हैं, बुद्धि और प्रतिभा-सम्पन्न हैं, अपेक्षा होती है कि वे जरा किनारे खड़े होकर चीजों को ठीक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखें और उन्हें अपने सही नाम से पुकारें — यह नहीं कि वे भी न सिर्फ़ और बहुतों की तरह उसी गंदगी की बाढ़ में तिनकों की तरह बह जायें बल्कि अपनी संवेदना और अपनी रचना-क्षमता का दुरुपयोग करके उसी गंदगी में और नये-नये गुल-बूटे तराशें।

बीटनिकों और हिप्पियों का इस सिलसिले में अकसर जिक्र उठा करता है और इसमें शक नहीं कि उनका असर बहुत से युवालेखकों ने, खासकर भूखी पीढ़ीवालों ने, बहुत लिया है। लिहाजा जहाँ जिंदगी की तरफ़ उनके रवैये को वहीं उनकी जिंदगी के तर्ज को भी अपनाने की कोशिश की गयी, और जहाँ लोग भाँग और चरस की ओर लपके वहाँ उनके यौन जीवन या कम से कम प्रचारित यौन जीवन ने भी उन्हें अपनी तरफ़ खींचा। सुना है कि गिंसबर्ग अपने पुरुष मित्र पीटर ओर्लोव्स्की का परिचय अपनी बीवी कहकर दिया करता था — इसमें शायद भूखी पीढ़ी के बहुत से विद्रोही कवियों को क्रान्ति की गंध मिली होगी! उसी तरह यह सूचना कि ब्रिटेन में समलिंगी मैथुन को वैध करार देने के लिए आंदोलन चल रहा है, (जो कि शायद अब सफल भी हो गया) बहुतों को बहुत क्रान्तिकारी जान पड़ी! और शायद इसी महत् उद्देश्य के समर्थन में इस तरह की सूचनाओं में एक ज्वार सा आता दिखायी पड़ा कि आस्कर वाइल्ड को इसी अपराध के लिए कारादंड हुआ था और रैंबो और वर्लेन में अप्राकृतिक संबंध था! ... और निस्संदेह ऐसा समझा और समझाया गया कि सेक्स के मसले पर यही आधुनिक दृष्टिकोण है!

हमारा नम्र निवेदन है कि यह 'आधुनिक' तो है पर आधुनिक नहीं है — यानी एक विशेष सम्प्रदाय की दृष्टि से ही आधुनिक है और कोई जरूरी नहीं कि दूसरा भी उसको सही माने। हमारा विश्वास है कि बीटनिक और हिप्पी और उनके दूसरे साथी बहके हुए लोग हैं। जहाँ तक वे पैसा-पूजा में लगी हुई महाजनी संस्कृति के खोखले जीवन-मूल्यों के खिलाफ़ एक विरोधी स्वर को

वाणी देते हैं वहाँ तक वे आदमी की इस सहज आकांक्षा को ही वाणी देते हैं कि आदमी इन ग़लत कसौटियों से अलग हटकर सहज आदमी बन सके—और इस संदर्भ में यह नितांत आकस्मिक नहीं है कि उनमें से बहुतों ने अमरीकी सरकार की दूसरी अन्याय-मूलक नीतियों का भी विरोध किया, जैसे घर के अंदर नीग्रो लोगों को आजादी से रहने का अधिकार न देना और बाहर आजादी की रक्षा के नाम पर वियतनामी जनता का संहार करना। लेकिन समग्रतः उनका जो कथ्य है और उनकी जो जीवन-पद्धति है वे कहीं पहुँचनेवाले नहीं हैं और प्रकारांतर से उस समाज-व्यवस्था को ही बल पहुँचाते हैं जो उनको अर्थात् उनके भीतर के सहज मानव को, जो मैत्री और सद्भाव के वातावरण में शान्तिपूर्वक-आनंदपूर्वक जीना चाहता है, अपने ढंग से जीने नहीं देता। अराजकता और सामाजिक क्रान्ति दो अलग चीजें हैं।

सेक्स की तरफ़ आधुनिक दृष्टि सबसे पहले तो यह है कि धोती के नीचे सब नंगे होते हैं। वह आदमी की अपनी प्राइवेट जिंदगी है जिसका भला-बुरा वही बेहतर समझता है। असल अश्लीलता ताक-झाँक की कोशिश में है—उतनी ही जितनी कपड़े खोलकर बाजार में नंगे घूमनेवाली प्रदर्शन-प्रियता या एक्ज़िबिशनिज़्म में जिसका आजकल की कुछ कहानियों में खास चलन है।

सेक्स की ओर आधुनिक दृष्टि का दूसरा आधार है कि वह आदमी के शरीर की एक ऐसी भूख है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता, उसी तरह जैसे पेट की भूख को नहीं झुठलाया जा सकता, और जब-जब समाज ने उसको झुठलाने की कोशिश की है, चाहे पादरियों और भिक्षु-भिक्षुणियों के संदर्भ में और चाहे जवानी में ही विधवा हो जानेवाली स्त्री के संदर्भ में, उसने अन्याय किया है और उसके बुरे नतीजे हुए हैं क्योंकि निसर्ग से बड़ा कुछ नहीं है और नियम वही चल सकता है जो निसर्ग के अनुकूल हो।

सेक्स की ओर आधुनिक दृष्टि का तीसरा आधार हमारी समझ में यह है कि उसकी ओर समाज की खुली हुई और उन्मुक्त दृष्टि हो; उस बात को तीन सौ बीस पर्दों में ढाँक-तोपकर रखने और भूल से भी मुँह पर न लाने की नीति से भीतर ही भीतर एक हजार बुराइयाँ पैदा होती हैं। स्टिफ़ान ज़्वाइग ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उसके देश ऑस्ट्रिया का समाज सेक्स के मामलों में ऐसी ही भयानक पर्देदारी का शिकार था और उस पर्दे के भीतर ऐसी ही हजार बुराइयाँ होती थीं और यह आकस्मिक नहीं है कि फ्रॉयड का जन्म उसी देश में हुआ।

सेक्स की ओर आधुनिक दृष्टि का चौथा आधार संभवतः यह है कि समाज

लड़कों और लड़कियों को, स्त्रियों और पुरुषों को, सहज भाव से एक दूसरे के पास आने का, मिलने-जुलने का अबसर दे। उसके बिना कोई स्वस्थ समाधान नहीं निकल सकता, न जीवन में और न साहित्य में — उल्टे उसी अस्वस्थ दृष्टि को प्रश्रय मिलता है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं।

सेक्स : आधुनिकता और बीमार 'आधुनिकता'', शीर्षक लेख के अन्तर्गत प्रस्तुत हमारे विचारों के संबंध में सुपरिचित कहानीकार बंधुवर कृष्ण बलदेव वैद का महत्वपूर्ण पत्र अमरीका से आया है।

उनके प्रश्नों को हम उन्हीं के क्रम से ले रहे हैं।

हमने समझ-बूझकर उन लेखकों या उन कहानियों का नाम नहीं दिया है जिनमें हमें रुग्ण सेक्स की यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है और जिनके संदर्भ में हमने वह बात कही है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि हमें उनके प्रचार का साधन बनना अभीष्ट नहीं, और दूसरे यह कि नाम लेकर चर्चा करने पर नाम ही प्रमुख हो जाते हैं, दोस्तियाँ और दुश्मनियाँ ढूँढ़ी जाने लगती हैं और बात पीछे छूट जाती है। फिर उसकी जरूरत भी क्या है जब उसके बिना ही प्रवृत्ति का संकेत स्पष्ट हो जाता है, जो कि शायद हो सका है, वर्ना इसको लिखने की जरूरत ही क्यों पैदा होती। बाहर से आनेवाले साहित्य में से नाम गिनाने की भी वैसी कोई जरूरत हमें नहीं महसूस हुई क्योंकि गिनाने योग्य नाम वहाँ भी नहीं हैं। (इतना स्पष्ट कर दूँ कि मेरा मतलब डी० एच० लॉरेन्स या हेनरी मिलर से नहीं है। यह बिलकुल और बात है कि 'ट्रॉपिक ऑफ़ कैंसर' को मैं मिलर की श्रेष्ठ कृति न मान पाऊँ या सार्त्र ने ज्याँ जेने को जिस तरह 'संत' बनाकर खड़ा कर दिया है उसका औचित्य मेरी समझ में न आये या जेने की 'आवर लेडी ऑफ़ द फ़्लावर्स' पूरी पढ़ पाना भी मेरे लिए एक कठिन परीक्षा बन गया हो।) वह तो पेवमेंटों पर बिकनेवाला वह ढेरों सेक्स और क्राइम का साहित्य है ('द वर्ल्ड बाइ नाइट' और 'ओरिएंट बाइ नाइट' और 'आवर मैन इन इस्ताम्बूल' या ऐसी ही दूसरी ढेरों फिल्मों जैसा, जिसके लिए हिन्दुस्तान संप्रति शायद बहुत अच्छा और गरम बाजार समझा जाने लगा है) जिसे गंभीर साहित्य की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती पर जिसे कच्ची रुचि या उलझी हुई मानसिकता का पाठक आधुनिक साहित्य की नवीनतम और अनुकरणीय उपलब्धि मानने की भूल कर सकता है, विशेषकर जहाँ इन चीजों के साथ थोड़े से नये ज्ञान-विज्ञान और जीवन की घृणास्पदता को सचेष्ट भाव से बार-बार रेखांकित करके उसके प्रति ऊब और जुगुप्सा जगानेवाली नयी दार्शनिकता की चाशनी भी मिली हो।

वैद जी की बात से हम बिलकुल सहमत हैं कि 'कलाकार को विषय के चुनाव में पूरी आजादी होनी चाहिए, कोई भी विषय उसके लिए वर्जित नहीं होना चाहिए। देखना यह है कि वह अपने चुने हुए विषय में से क्या बनाता-रचता है।' हम उनकी इस बात से भी सहमत हैं कि विकृतियों को भी साहित्य का विषय बनाकर 'सशक्त, आधुनिक, मानवीय, ईमानदार और ऊँचा साहित्य' रचा जा सकता है, लेकिन निवेदन है कि ऐसा शायद तभी संभव है जबकि लेखक उन विकृतियों में रस लेने या दूसरे को उनका रस देने के लिए न लिख रहा हो बल्कि उस निस्संगता से लिख रहा हो जो उन विकृतियों को भी समग्र जीवन के अन्तस्संबंधों में देख सकने की गहरी अन्तर्दृष्टि रखती है। उसके लिए दो चीजों की जरूरत है, एक तरफ रचनाधर्मिता की गहरी ईमानदारी और दूसरी तरफ मनुष्य और उसके परिवेश की गहरी पकड़ — परिवेश की बात कहना जरूरी है क्योंकि उसके बिना आदमी की कहानी पूरी नहीं होती। वैद जी का कहना बिलकुल सही है कि 'फॉर्म से अलग कोई कॉण्टेण्ट नहीं होता', लेकिन उन्हें यह भी तो न भूलना चाहिए कि कॉण्टेण्ट से अलग कोई फॉर्म भी नहीं होता, कम से कम साहित्य में; दोनों की अन्विति ही रचना है। जहाँ यह अन्विति नहीं होती या कच्ची होती है वहीं पर साहित्य अनुत्तीर्ण है और तब हम उसे निम्न कोटि का साहित्य या छद्म साहित्य कहते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना उपयोगी होगा कि साहित्य और दूसरी ललित कलाओं में फॉर्म और कॉण्टेण्ट के परस्पर संबंध की स्थिति एक जैसी नहीं होती।

जहाँ तक साहित्यकार की आकांक्षाओं या motives की ओर ध्यान न देने और उसकी चिन्ता उसी पर छोड़ देने की बात है, हमारा निवेदन कुल इतना है कि ये सारी बातें केवल उन्हीं अनुत्तीर्ण रचनाओं के सम्बन्ध में उठा करती हैं और उठने के लिए बाध्य हैं (उसी तरह जैसे प्रचारवादिता का अभियोग भी अपने क्षेत्र में वैसी ही अनुत्तीर्ण रचनाओं के सम्बन्ध में लगाया जाता है) क्योंकि प्रकाशित रचना साहित्यकार और पाठक के बीच एक प्रकार का अनुबंध होती है, और जब वह उसको तुष्ट नहीं करती और केवल चौंकाकर रह जाती है तो वह जानना चाहता है कि ऐसा क्यों हुआ। और फिर उस स्थिति में वह रचनाकार और रचना के बारे में अपना मत बनाने के लिए स्वतन्त्र है। दूसरी बात जो इस चौंकानेवाली 'बोल्डनेस' के सम्बन्ध में कहने की है वह यह कि 'बोल्ड' होना अपने आप में पूरी बात नहीं है; उसके बाद सवाल पैदा होता है, क्यों ? किसलिए ? उसका हेतु क्या है ? किसी दुधमुँहे बच्चे का गला घोंटकर मार डालना या किसी राहचलती लड़की को छुरा दिखाकर अपने घर पकड़ लाना

और फिर उसके मुँह में कपड़ा ठूँसकर उसके साथ बलात्कार करना या किसी के घर में सेंध लगाना या किसी की जेब काटना — इन सभी कामों के लिए अपने-अपने ढंग की बोल्डनेस दरकार है, और अच्छी-खासी बोल्डनेस दरकार है, लेकिन कौन कहेगा कि यह कोई अच्छी बोल्डनेस है ? उसी तरह अगर कुछ लिखनेवालों के यहाँ यह दिखायी पड़े कि उनकी सारी बोल्डनेस सेक्स के बारे में लिखने को लेकर है और हर आदमी इसी एक चीज के बारे में दूसरों से बाजी मार ले जाने के चक्कर में है, और दूसरी कोई चीज उसे हमारे इस पाँच हजार साल पुराने सड़े-गले समाज में अपनी बोल्डनेस का परिचय देने के लिए नहीं मिलती, जहाँ इतना और इतने तरह का अन्याय है अत्याचार है कि जीवन दुर्वह हो गया है, तब बरबस इस बात पर ख्याल जाता ही है कि यह किस किस्म की बोल्डनेस है जो सिर्फ एक तरफ अपना जौहर दिखलाती है और बाकी सब तरफ काफी सँभलकर, मौका-महल देखकर, समझौते करके और कान-पूँछ दबाकर चलती है ?

जहाँ तक पश्चिमी आधुनिकता की नकल की बात है, उसका ठप्पा जरा ज्यादा ही गहरा और साफ है — वैसे ही जैसे पढ़े-लिखे लोगों द्वारा अंग्रेजी तौर-तरीकों को अपनाने और अंग्रेजी गिटपिटाने की कोशिश में । रचनाओं के अन्तः साक्ष्य से भी इस चीज को प्रमाणित कर देना बहुत कठिन न होना चाहिए । मोटे रूप में आप का कहना बिल्कुल सही है कि 'हमारी अनुभूतियाँ, हमारी आकांक्षाएँ, हमारी विकृतियाँ, हमारी संवेदनाएँ, हमारी समस्याएँ, हमारी हँसी, हमारे आँसू, हमारा भाव-बोध बिल्कुल अनोखा और अलग नहीं है' और उस अर्थ में पश्चिम ही क्यों, उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम सारे संसार से हमारा मेल है, क्योंकि सारे संसार में आदमी वही है। लेकिन दिशा और काल के भेद से भौतिक और मानसिक स्थितियों में जो थोड़ा या बहुत भेद आ जाता है वह भी उपेक्षणीय नहीं है और वहीं पर इस बात की जरूरत पड़ती है कि आदमी सबसे पहले अपने समय और अपने परिवेश से जुड़े और उसको पहचाने, और उसमें अपने कर्तव्याकर्तव्य को पहचाने । वही जब नहीं होता और अंधानुकरण का मार्ग अपनाया जाता है तब यह अभियोग सामने आता है । उदाहरण के लिए (अगर हम यहाँ पर समाजवादी देशों की बात न भी करें, गो कोई वजह नहीं है कि क्यों न करें और क्यों आधुनिकता का सब ठेका अमरीका या फ्रांस या इंगलैंड या पश्चिमी जर्मनी को सौंपकर संतुष्ट हो जायँ) अमरीका के संपन्न समाज (अफ्लुएंट सोसायटी) जो चाँद पर आदमी को उतारने के करीब है और भारत के विपन्न समाज, जो आज आजादी के बाईस बरस बाद भी अपनी रोटी के लिए दूसरों का मुहताज

है, दोनों में बड़ा अंतर है, वही अंतर जो एक भरे पेट के आदमी और एक खाली पेट के आदमी में होता है, और जब खाली पेटवाला भरे पेटवाले का बोलचाल का लहजा और चलत-फिरत का ढंग और भाव-भंगिमाएँ अपनाने की कोशिश करता है तब बड़ी क्रूर और हास्यास्पद स्थिति पैदा होती है, और हमने उसी की तरफ इशारा करना चाहा है।

चौथी और आखिरी बात। यह ठीक है कि सेक्स की भूख आदमी की एक बुनियादी भूख है। यह भी ठीक है कि हमारे पिछड़े हुए, अर्द्धसामंती समाज में उसका स्वस्थ समाधान नहीं मिलता। लेकिन वह अमरीकी तर्जे जिंदगी में भी तो नहीं मिलता कि हम उसी की दुहाई दें और उसी रास्ते चल पड़ें — निश्चय ही बंधुवर कृष्ण बलदेव को पता होगा कि अमरीका में सेक्स अपराधों की क्या भयंकर स्थिति है, कैसे यौन अपराधों के मामले में वह दुनिया में सबसे आगे है और कैसे वहाँ के समाज-शास्त्री उसके सम्बन्ध में उद्विग्न और चिन्तित हैं। समझदार आदमी दूसरों के तजुर्बों से भी सीखने की कोशिश करता है। यानी कि हमें अपनी इस समस्या का स्वस्थ समाधान खोजना है। हमारे देखने में, दूसरे सामाजिक प्रश्नों की तरह, उसका भी समाधान एक अधिक न्यायपूर्ण, उन्नत, आधुनिक, सुरक्षित और विवेकशील समाज की रचना में मिलेगा। हमारा विश्वास है कि आधुनिक कहानी उस समग्र अर्थ में अपने युग की वाणी बनकर ही अपनी सच्ची आत्मा और सार्थक प्राणवत्ता पा सकेगी। ऐसी स्थिति में अगर कोई आदमी इस संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को नजर की ओट करके लोगों की धोतियाँ उघाड़ता फिरे, यह दिखाने के लिए कि धोती के नीचे सब नंगे होते हैं, (जो एक जानी-मानी सच्चाई है और जिसे सब पहले से ही जानते हैं) तो कहना होगा कि या तो वह आदमी पागल है या कहीं से उसके दिमाग में यह कीड़ा घुस गया है कि यह एक बड़ा विद्रोही-क्रांतिकारी काम है जो वह कर रहा है, जिसके जरिये वह दुनिया पलट देगा और सभी सवाल हल हो जायेंगे जिनमें उसकी यौन भूख का सवाल भी शामिल है! मगर मुश्किल यह है कि धोती को पलटना दुनिया को पलटना नहीं है, वह इससे जरा कठिन काम है!

संत्रास

एक विशेष भावधारा की कहानी-चर्चाओं में, पिछले दिनों, 'संत्रास' की बात बार-बार उठती रही है। 'संत्रास' अर्थात् टेरर। मूल अंग्रेजी शब्द देना जरूरी है क्योंकि जहाँ तक हमें पता है उसी से बात शुरू हुई थी — शायद निर्मल वर्मा के किसी लेख से। ठीक याद नहीं, पर संभवतः उनके उस लेख का सन्दर्भ, उनके यूरोपीय प्रवास की कहानियों के समान ही, यूरोपीय है। अपने उस सीमित सन्दर्भ में यह बात काफी दूर तक समझ में भी आती है, पर जिस तरह, उनके बाद, कुछ अधकचरे लोगों ने समझे-बिनसमझे उसका रामनामी चदरा गले में डालकर घूमना शुरू किया, वह बात बिलकुल ही समझ में नहीं आती। जो लोग उसकी माला फेरते हैं, उनकी भी समझ में आती है, यह कहना कठिन है, क्योंकि जब भी इस 'संत्रास' को परिभाषित या चिह्नित करने की बात उठी है, लोग कतराते या कुछ गोलमोल बातें करके बच निकलने की कोशिश करते देखे गये हैं। उसका कारण शायद यही है कि यह उनकी अपनी अनुभूति या प्रतीति या बोध नहीं है वर्ना जरूर वे आत्मविश्वास के साथ उसके रग-रेशे अलग करके दिखा सकते थे — या फिर कौन जाने उसके अनाम-अरूप बने रहने में ही उनके निकट उसकी सार्थकता हो, गरिमा हो, महत्ता हो, और नाम-रूप मिलते ही उसका स्तर गिर जाता हो !

लेकिन, सोचने की बात है, 'संत्रास' कह देने से ही तो बात पूरी नहीं हो जाती — सवाल पैदा होता है, कैसा संत्रास ? किसका संत्रास ? दुनिया में कोई एक तरह का संत्रास तो है नहीं। यूरोप में कभी हिटलर का संत्रास था। वैसे ही, सुनते हैं, रूस में कभी स्तालिन का संत्रास था। मुँह खोलते लोगों को डर लगता था। इसलिए कि दीवारों के भी कान होते हैं। बेटे-बेटियाँ माँ-बाप के खिलाफ जासूसी करते थे। कोई ठीक नहीं था कि अब किस आदमी को पकड़-कर गोली मार दी जायेगी। घर का आदमी सबेरे काम पर जाता था तो शाम को लौटकर घर आयेगा या नहीं, कहना मुशकिल था। यह एक तरह का संत्रास था, जिसे राजनीतिक संत्रास कह सकते हैं और जो कि, मेरा खयाल है, कम से कम अभी हमारे यहाँ नहीं है।

दूसरा एक संत्रास जिसके बीच से यूरोप को, और कमोबेश दुनिया के बहुत

से देशों को, गुजरना पड़ा दूसरा महायुद्ध था । दिन-रात की वह बमबारी, कुछ ठीक नहीं कि कब, किस घड़ी, आसमान उन बमबारों से ढँक जायेगा और गोले बरसने लगेंगे, और रात जो आराम का वक्त है वही बमबारी का भी सबसे अच्छा वक्त है । पूरे समय उसके संत्रास से लोगों का दिल धड़क रहा है, दिन को चैन है न रात को, साइरेन बजता है और लोग शेल्टर्स की ओर गिरते-पड़ते भागते हैं, औरतें बच्चे-बूढ़े-बीमार, और उस तमाम चीख-पुकार, साक्षात् संत्रास, के बीच अपनी जान की खैर मनाते बैठे रहते हैं, जब तक कि ऑल-क्लियर की सूचना नहीं मिलती, और यह कोई एक दिन नहीं, बरसों और एक-एक दिन में कई-कई बार । ... और यह हाल उनका है जो मोर्चे पर लड़ने के लिए नहीं गये हैं । जो मोर्चे पर गये हैं, उनका युद्ध-संत्रास, प्रतिक्षण मृत्यु के साक्षात्कार का संत्रास, वह कुछ अधिक ही भीषण है । ... और फिर युद्ध समाप्त हो जाता है और तब दिखायी पड़ता है कि गाँव के गाँव, शहर के शहर मिट गये, लाखों-करोड़ों लोग मारे गये और लँगड़े-लूले-अपाहिज हो गये, हर घर को दाग लग गया, पूरी-पूरी कौम जवानों से खाली हो गयी, परिवार टूट-फूट गये, बेटे का बाप नहीं, बाप का बेटा नहीं, मर्द की औरत नहीं, औरत का मर्द नहीं, जवान लड़की बेसहारा होकर सड़कों पर फिर रही है, चारों तरफ एक खँडहर का वीरानापन जिसमें जहाँ सभी कुछ टूटा-फूटा वहाँ जीवन के मूल्य, जीवन की आस्थाएँ, जीवन के संबल भी टूट-फूट गये ।...

और उस अभूतपूर्व विनाशकारी महायुद्ध के अंत में, चलते-चलते, हिरोशिमा और नागासाकी में उस सर्वसंहारक अणुबम का भी प्रथम दर्शन मिल गया, जिसके असर से आज बाइस-तेइस बरस बाद भी लोग वहाँ मर रहे हैं, और जो अपने भीतर, भविष्य के लिए, महाप्रलय का सीमातीत आतंक और संत्रास छिपाये हुए था । उन बमों से हजारों गुना संहारक उद्जन बम आज बड़ी संख्या में बड़ी-बड़ी ताकतों के हथियारखानों में मौजूद हैं और सिर्फ यहाँ-वहाँ कुछ बटन दबाकर इस पृथ्वी नामक ग्रह को देखते-देखते इस तरह मिटा दिया जा सकता है जिस तरह स्लेट पर से इबारत मिटायी जाती है ! यह भी एक संत्रास है, आज का एक बड़ा संत्रास, जिसे पश्चिम का नागरिक भोगता है और बड़े गहरे रूप में भोगता है, एक तो इसलिए कि उसके पास पिछले महायुद्ध के अपने अनुभव की पृष्ठभूमि है और दूसरे इसलिए कि वह हमसे ज्यादा पढ़ा-लिखा है और ज्यादा विज्ञान-प्रवण है । इतना ही नहीं, जहाँ आणविक आक्रमण के समय बचाव के लिए जमीन के नीचे पूरे-पूरे शहर बनाये जा रहे हों वहाँ अगर लोगों में 'न्यूक्लियर साइकोसिस' पैदा हो जाती है (जो कभी-कभी ऐसे मानसिक

विपक्षे की स्थिति तक पहुँच जाती है, जैसा कि शायद अभी पिछले साल अमरीका में हुआ था, कि कहीं के किसी ज्योतिषी की भविष्यवाणी से — अमुक तारीख को सृष्टि का विनाश हो जायेगा — आतंकित होकर सैकड़ों-हजारों लोग जंगलों में भाग गये, पहाड़ों पर चढ़ गये, नावें लेकर समुद्र में दूर निकल गये !) तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। फिर इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है अगर हिस्टीरिया की इस मनःस्थिति में से एक ओर घोरतम नैराश्य का जन्म होता है और दूसरी ओर प्रस्तुत क्षण में, क्योंकि उतने का ही भरोसा है, देह को अच्छी तरह भोग लेनेवाले दर्शन का। जिन अनेक मिले-जुले, बल्कि गडमड, कारणों से यूरोप में और अमरीका में 'टेडी ब्वॉयेज़' या 'हिपी' या 'बीटनिक' प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है, जिनमें थोड़ा अन्तर भले हो लेकिन निश्चय ही कहीं पर मूलगत साम्य है, उनमें पिछले महायुद्ध के कराल तांडव, अनेक स्तरों पर उसके भयंकर व्यक्तिगत, सामाजिक और नैतिक परिणामों, और आशंकित परमाणु-युद्ध का संत्रास भी एक बड़ा कारण है।

तो क्या हम यह समझें कि हमारे यहाँ जिस संत्रास की बात इतने फैशन-सम्मत ढंग से कही जाती है, वह यही संत्रास है ? शायद नहीं, क्योंकि युद्ध की आग तो हम पर बरसी ही नहीं — बस कलकत्ते में दो-चार हल्के-फुल्के बम गिरे थे और उन्हीं से कैसी बेपनाह खलबली मच गयी थी कि लोगों को भागते राह नहीं मिल रही थी, इन पंक्तियों का लेखक जिसका साक्षी है — बस उसकी आँच लगी, ब्लैकमार्केट के रूप में, जो इतने बरसों में आज और भी मजबूती से आसन जमाये हमारे बीच बैठा है। पर वह बिल्कुल और बात है। यह संत्रास इस ब्लैकमार्केट का संत्रास है, ऐसा शायद कोई भी नहीं कहेगा। जहाँ तक आशंकित परमाणु-युद्ध के संत्रास की बात है, उसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह हमारे लिए एक नितांत बाहरी चीज है, अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी उसकी भयावहता से अबोध हैं।

तब फिर यह बहुचर्चित 'संत्रास' क्या है ? कैसा है ? क्यों है ?

हम ऊपर कह आये हैं कि संत्रास के पक्षधर उसको परिभाषित या चिह्नित करने से कतराते हैं। मेरी इस बात के विरोध में जबलपुर से किन्हीं श्री ओंकार शुक्ल ने अपनी प्रतिक्रिया भेजी है। उन्हें आशंका थी कि उनका अभिमत पत्रिका में प्रकाशित न हो सकेगा। लेकिन सच तो यह है कि मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने इतने स्पष्ट शब्दों में अपना विरोध व्यक्त किया, 'संत्रास को परिभाषित करने' की कोशिश की, और मुझे इसका अवसर दिया कि इस प्रश्न पर और गहरे उतरकर विचार किया जा सके। पत्र देर से मिलने के कारण अन्य पत्रों

के साथ तो नहीं जा सका, पर उन्होंने बात महत्वपूर्ण कही है इसलिए उसके सभी जरूरी अंशों को यहीं पर उद्धृत करते हुए हम उनकी आपत्ति के संदर्भ में प्रश्न पर आगे विचार करेंगे ।

श्री ओंकार शुक्ल कहते हैं :

'सबसे पहले यदि हम अपने परिवेश को देखें तो हमें क्या मिलेगा ? आया राम-गया राम की गंदी राजनीति, मंत्रियों की घूसखोरी...बढ़ती बेकारी... अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश की दब्बू नीति...पुलिस के जुल्म...अफ़सरशाही...हुकूमत के नुमाइंदों की मक्कारी और भ्रष्टाचार का तांडव हर तरफ । अपना भविष्य हमको अंधकार में दिखता है। मन में छटपटाहट घुमड़ती है, एक तनाव पैदा होता है । इस घुमड़न और तनाव को आक्रोश — स्थितियों के प्रति क्रोध — की संज्ञा दी जा सकती है । किंतु हम देखते हैं कि यह आक्रोश नपुंसक ही रह जाता हैं क्योंकि आक्रोश की परिणति विद्रोह और क्रांति में होनी चाहिए जो कि नहीं हो पाती ।...

'अब प्रश्न है कि क्या यही घुमड़न, आक्रोश, असंतोष, तनाव 'संत्रास' है ? आपके अनुसार 'नहीं' क्योंकि आपने 'संत्रास' का अर्थ 'टेरर' से लिया है, या कि इसी 'टेरर' से 'संत्रास' निकला है । किंतु मैं कहना चाहता हूँ कि अपने अनिष्ट की आशंका से उद्भूत भावनाओं का संकोच 'संत्रास' है जो कि अपने आप में इसी घुमड़न, इसी आक्रोश, इसी तनाव और इसी असंतोष को सहेजे है ।

'अपने संपादकीय में आपने स्वयं ही स्वीकारा है कि दुनिया में कोई एक तरह का संत्रास तो है नहीं ।...संत्रास समाज-सापेक्ष है — सामाजिक परिवेश के संदर्भ में इसके कारणों में भिन्नता हो सकती है । तो फिर इस बात को क्यों नकारा जाय, कि भारत में संत्रास नहीं है जब कि यहाँ के एकाधिक प्रदेशों में भीषण दुर्भिक्ष का साया मँडरा रहा है, बाढ़ और सूखे की स्थिति से सैकड़ों-हजारों की संख्या में लोग काल-कवलित हो रहे हैं। इन स्थितियों को आँखों से देखते हुए भी क्या इनसे असंलग्न रहा जा सकता है ?...अभावों की पीड़ा को, प्राकृतिक कोपों की पीड़ा को, भले ही कोठी, बँगला और कारवाले न जानें, मध्यमवर्गीय परिवार तो उससे बुरी तरह आक्रांत है । यह एक सर्वमान्य सत्य है ।

'और भी, यदि रूस में स्टालिन की तानाशाही का संत्रास था तो क्या हमारे यहाँ रोज-रोज अखबारों में निहत्थी जनता के भूँजे जाने की खबरें झूठ हैं ? इंद्रप्रस्थ भवन में सीधे-सादे बाबुओं पर नृशंस गोली व लाठी प्रहार, जबल-

पुर में ऐतिहासिक २६ मई को चुपचाप खड़े नरबद नाई का सीना चीरती गोलियाँ, आफिस जा रहे एक कर्मचारी को बूटों की ठोकर उस समय तक जब तक सहायता के लिए निकलता आर्तनाद खामोश न हो गया, कच्छ सत्याग्रह में गयी महिलाओं के साथ अभद्र व्यवहार, बस्तर नरेश को गोलियों से छेद देना — ये सब क्या झूठ हैं ? तब क्या स्टालिनशाही का प्रच्छन्न अहसास आभासते यहाँ के लोग अपनी असमर्थता की टीस में घुटते संत्रस्त नहीं हैं ?...'

आप ठीक कहते हैं, लोग संत्रस्त हैं, बहुत संत्रस्त हैं — अपने दैनंदिन अभावों से, कष्टों से, जीवन-यापन की साधारण चिन्ताओं से, नितांत अरक्षित होने के बोध से, अंधकारपूर्ण भविष्य से, स्थिति को बदलने में अपनी असमर्थता के बोध से, बदलने की दिशा में की गयी चेष्टा की व्यर्थता के बोध से, राष्ट्रीय जीवन के भ्रष्टाचार से, आपस की कलह से, सामाजिक जीवन में नाना प्रकार की हीन प्रवृत्तियों के इस अभूतपूर्व आस्फालन से। सामाजिक परिवेश का आपने जो चित्र खींचा है वह बिलकुल ठीक है, लेकिन क्या जनसाधारण में फैला हुआ 'संत्रास' (अगर आप उसे 'संत्रास' कहना ही चाहें, वैसे शब्दों का कोई अकाल तो है नहीं, और न कोई ऐसी जरूरत कि उस शब्द की सार्थकता दिखलाने के लिए खींचतानकर भारत का सादृश्य हिटलर के जर्मनी और स्तालिन के रूस और लिंडन जॉन्सन के बमों से विध्वस्त वियतनाम के साथ बैठाया जाये) और कुछ नये कवियों और कहानीकारों के यहाँ चर्चित 'संत्रास' एक ही चीज है ? क्या आपने जिस तरह उसको सामाजिक परिवेश के संदर्भ में रखकर देखने और समझने का यत्न किया है, वैसे ही आपके अन्य बंधु भी करते हैं ? क्या मेरा यह कहना गलत है कि जिस प्रकार इस 'संत्रास' का भाष्य किया जाता रहा है उससे उसका कोई स्पष्ट चेहरा उभरकर पढ़नेवाले के सामने नहीं आता ? क्या इसका कारण यही नहीं है कि उस 'संत्रास' को सामाजिक स्थितियों से, दिशा-काल से नहीं जोड़ा गया, बल्कि ऐसा करने से यत्नपूर्वक बचा गया और उसे एक सनातन संदर्भ के रूप में प्रस्तुत किया गया ? क्या सामाजिक स्थितियों से जोड़ने पर उस शब्द का भावार्थ बिलकुल नहीं बदलता ? मैं समझता हूँ कि बदलता है और बहुत बदलता है। इतना कि वह शब्द अनुपयुक्त हो जाता है, गलत मतलब देनेवाला और भटकानेवाला हो जाता है। यह आकस्मिक बात नहीं है कि जिन लोगों के यहाँ 'संत्रास' की सबसे अधिक चर्चा होती है उनके यहाँ साहित्य की सामाजिक भूमिका को सबसे अधिक नकारा जाता है। उदाहरण के लिए देखिए उन ढेरों अकविताओं और अकहानियों को जो व्यक्ति की परिधि के बाहर निकल ही नहीं पातीं, जिनसे समाज का कोई

परिचय या उसके भीतर पैठने की कोई दृष्टि नहीं मिलती और इसलिए जिनका विद्रोह विद्रोह की एक हास्यास्पद मुद्रा बनकर रह जाता है, जिसका सर्वाधिक प्रचलित रूप यौन 'विद्रोह' है।

सामाजिक संदर्भ से जुड़ने की बात बड़ी है, उससे परिप्रेक्ष्य एकदम बदल जाता है। साहित्यकार का भी, और उसके साहित्य का भी। फिर यह निपट अकेले व्यक्ति का संत्रास नहीं रहता, उसका स्थान कोई दूसरा सामाजिक भाव लेने लगता है। संत्रास एकांत भय की स्थिति है, सुन्न हो जाने की स्थिति है, दिशाहारा होकर प्राणभय से कहीं किसी कोने में छिपकर बैठ रहने की स्थिति है, समग्र विमूढ़ता की स्थिति है, निपट अकेलेपन की स्थिति है अर्थात् ऐसा अकेलापन जहाँ आदमी भीड़ में होने पर भी अकेला है। मगर, जैसा मैंने कहा, बात बदल जाती है जब आदमी अपने से बाहर निकलता है और दूसरे आदमी से मिलता है और आदमी और आदमी के बीच एक रिश्ता कायम होता है। वह आदमी को ताकत देता है। डर को भगाता है। सारे भूत-प्रेत अकेले आदमी को लगते हैं, दो आदमियों को कोई भूत-प्रेत नहीं लगता। आत्मघाती संत्रास से मुक्ति पाने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है। और सच्ची बात यह है कि यह संत्रास दो-चार लोगों के मन का भूत छोड़ और कुछ है भी ही। जनता में कहीं संत्रास नहीं है; ऊपर जहाँ लोगों को 'संत्रस्त' कहा गया है उसका आशय, इतना ही है कि लोग परीशान हैं, दुखी हैं, खोये हुए हैं, झुँझलाये हुए हैं, सब हैं मगर संत्रस्त नहीं हैं, वर्ना आये दिन छात्रों के, मजदूरों के, किसानों के, सफेदपोश कर्मचारियों के, स्त्रियों के इतने प्रदर्शन न हुआ करते और न लोग पुलिस के डंडों और गोलियों और आँसूगैस की कुछ भी परवाह न करते हुए इस हिम्मत और दिलेरी से उनमें हिस्सा लेते। जनता के भीतर संत्रास देखना केवल अपने मन के भूत को उसके सर पर थोपना है। आगे बढ़-कर राह दिखानेवाला हो तो वह कुछ भी कर सकती है, मगर वही नहीं है, और यही सबसे अनिष्टकारी स्थिति है। राजनीति ने तो विश्वास भंग किया ही, दुर्भाग्यवश साहित्य और विचारक भी अपनी गुत्थियों में उलझकर समाज से कट गया और विचार के नाम पर ऐसे-ऐसे गुल-बूटे तराशने लगा जिनको समाज से प्रयोजन नहीं था और जिनसे समाज को प्रयोजन नहीं था। वर्ना अपने युग के दुख-दर्द को, उसके असंख्य चेहरों को, उनके भीतर गहरे उतरकर, उनकी समस्त असंगतियों और अन्तर्विरोधों के साथ, तमाम ताकत और पस्ती, (ताकि उसका 'आक्रोश' 'नपुंसक' न रहे, और उस 'आक्रोश की परिणति विद्रोह और क्रान्ति में' हो) हिम्मत और मजबूती के साथ देखने और

समझने और वाणी देने से कौन उसे रोकता है ? अगर है तो वह खुद अपना बंदी है ।

इसी विषय पर हम पहले जो कुछ कह चुके हैं उसकी प्रतिक्रिया के रूप में बंबई के विश्वेश्वरजी ने ९६ फुलस्केप पन्ने लिखकर भेजे हैं — यानी कि एक पूरी किताब ! स्पष्ट है कि उसको छापना संभव नहीं था, जब तक कि एक पूरा अंक उसी को न दे दिया जाय । छोटी प्रतिक्रियाओं में से दो चुनकर 'विचार-मंच' स्तम्भ के अंतर्गत दी जा रही हैं । दोनों ही विरोधी प्रतिक्रियाएँ हैं — और विश्वेश्वरजी का तो जैसे अत्यंत उग्र विरोधी स्वर है । उनकी बातें तो मोटे रूप में इन दोनों प्रतिक्रियाओं में आ गयी हैं, लेकिन सांप्रतिक जीवन की यातनाओं के गहरे निजी अनुभव और प्रत्यक्ष अभिज्ञता के भीतर से पाया गया वह दर्द, वह तिलमिलाहट, वह गुस्सा और बेचैनी, और सीधे-साधे दिल की तड़प में से निकलनेवाली वह सहज ओजपूर्ण शैली इनमें से किसी में नहीं है, और हमें सचमुच बड़ा खेद है कि स्थानाभाव के कारण हम उसका उपयोग नहीं कर सके । निश्चय ही उससे हमें स्थिति को समझने में और सवाल के भीतर और भी गहरे पैठने में मदद मिली है, और अच्छा होता कि हम उसे छाप सकते (छोटी टिप्पणी के रूप में मिलने पर हम उसे इतने ही आदर के साथ छापेंगे भी) क्योंकि हमारा विश्वास है कि ऐसी बहसों में महत्व इस बात का नहीं होता कि किसने किसका समर्थन किया या विरोध, महत्व इस बात का होता है कि एक ज्वलंत प्रश्न पर सोचने-विचारने की एक प्रक्रिया शुरू होती है, कितने ही लोग पूरी ईमानदारी और गंभीरता से बात की तह तक पहुँचने की कोशिश करते हैं, जिस बात को वे सही समझते हैं उसको बेलाग ढंग से कहते हैं और जोर-शोर से एक बहस चलती है जिसमें अधिकाधिक लोग हिस्सा लेते हैं । सर्वमान्य निष्कर्ष के रूप में उसका कोई नतीजा निकलेगा ही, यह भी जोर देकर कहना कठिन है, लेकिन इतना निस्संदेह कहा जा सकता है कि ऐसी बहस निश्चय ही उपयोगी होती है और अगर कोई नतीजा निकल सकता है तो ऐसी ही बहस में से निकल सकता है — संध्या भाषा में दिये गये, उलझे हुए ऊन के गोले जैसे, दो-चार वक्ताओं-प्रवक्ताओं के प्रवचनों से नहीं, जिनका पिछले दिनों काफी चलन रहा है । एब्सर्ड-बोध, मृत्यु-बोध, संत्रास-बोध, इन पर लिखा कम नहीं गया है, लेकिन उस लिखने से बात की रूपरेखा कितनी स्पष्ट हुई है यह संदिग्ध है ।

बंधुवर रामगोपाल गुप्त और चंदन नेगी ने अपने-अपने ढंग से आपत्ति उठायी है कि हमने 'संत्रास' शब्द को विदेशी संदर्भों से क्यों जोड़ा ? हम ऐसा क्यों मानते हैं कि वह योरप से आयात किया हुआ शब्द है ? क्या आज हमारे

देश में ऐसी जीवन-स्थितियाँ भरपूर नहीं हैं जो संत्रास का बोध या भाव मन में उत्पन्न करती हैं? विश्वेश्वरजी ने बात के इसी पहलू पर जोर देते हुए बड़े सबल शब्दों में यह दिखाया है कि सामाजिक जीवन के सभी स्तरों पर आज हमें कितनी जटिल, भयावह, चरम निराशाजनक और जघन्य से जघन्य स्थितियों का सामना करना पड़ता है जिनसे कहीं निस्तार नहीं है, जिनसे छूटने का कोई उपाय नहीं है, जो हजार तरह से मन को तोड़ती हैं और शब्द-हीन भय की एक काँपती हुई छाया मन पर साँप की तरह कुंडली मारे बैठी रहती है। उसी बात को एक दूसरे संदर्भ में ग्रहण करते हुए चंदन नेगी कहते हैं — 'आत्मवंचना से भरी, कीड़े-मकोड़ों से भी बदतर यह जिन्दगी अगर उसे जड़ न बनाये तो क्या करे? बुद्ध ने भी कभी निष्कर्ष दिया था कि यह जीवन अपने वास्तविक रूप में विषादों से भरा पड़ा है। विषादों के इसी वास्तविक रूप को आज की कहानी तीव्रता दे रही है। उसे कीर्केगार्द की नकल कहना या काफ्का की 'मेटामॉर्फ़ोसिस' कहानी के नायक के फूहड़ प्रतिबिंब उसमें आरोपित करना या नीत्शे के अकेलेपन का उनसे सामंजस्य स्थापित करना उनकी भारतीयता को ठगना है ...'

हमने ऊपर अपने सामाजिक संदर्भ से जुड़ने की जो बात कही थी, यह शायद उसका जवाब है। और हमारे इस अभियोग के उत्तर में कि संत्रास की बात कहनेवाले उसको परिभाषित नहीं करते, चंदन नेगी ने उसकी एक परिभाषा देने का भी यत्न किया है — 'किसी भी समाज या काल में विकल्पों को प्राप्त कर सकने की स्वतंत्रता की इति संत्रास को जन्म देने में समर्थ होती है और इसी इति का आधिक्य संत्रास की जकड़ को मजबूत से मजबूत बनाने में सहायक होने लगता है।'

हम नहीं समझ पाते कि यह परिभाषा कहाँ तक ठीक है और कितनी दूर किसी दिशा में हमें ले जाती है। इतना तो स्पष्ट ही है कि इसमें शब्द को रबड़ की तरह खींचकर उसके भीतर नये अर्थ बैठाने की एक कोशिश दिखायी पड़ती है। इस तरह से देखने पर तो सृष्टि के आदि से लेकर आज तक सारे संसार में संत्रास की ही स्थिति स्वीकार करनी होगी, क्योंकि विकल्पों को प्राप्त कर सकने की पूर्ण स्वतंत्रता तो शायद कहीं नहीं मिलेगी और कभी नहीं रही, समष्टि का संदर्भ हमेशा व्यक्ति की इस स्वतंत्रता को मर्यादित करता रहा है। फिर सवाल पैदा होता है कि वह विकल्प कैसा है, क्या है। और उसको प्राप्त कर सकने की स्वतंत्रता का हनन संत्रास को ही जन्म क्यों देता है, दूसरे किसी भाव को जन्म क्यों नहीं देता, जैसे क्रोध को, स्थिति को बदल देने के उत्साह और

संकल्प को — और फिर उन सबको एकाग्र भाव से किसी एक दिशा में संचालित करनेवाली क्रियाशीलता को ? यह खोटी आजादी पाये, जिसमें जीवन दुर्वह हो उठा है, अभी बीस-बाइस बरस ही तो हुए हैं, इसके पहले देश अँग्रेजों का गुलाम था, तब क्या विकल्पों को प्राप्त कर सकने की अधिक स्वाधीनता थी ? और अगर नहीं थी, जो कि निश्चय ही नहीं थी, तो क्या देश और उसके स्वाधीनचेता साहित्यकार संत्रास की सर्पकुंडली के नीचे दबे-पिसे बैठे थे ? अगर दबे-पिसे बैठे थे तो वह क्रियाशील मुक्तिचेतना कहाँ से आयी जिसने देश को आजाद कराया, जैसा भी आजाद कराया ? यह ठीक है कि यह आजादी हमारे सपनों की आजादी नहीं है, किसी के सपनों की आजादी नहीं है, आजादी का मखौल है, आजादी के खोल में बड़े-बड़े धनपति सेठों का नया राजत्व है, जिसके चलते ही देश आज इस कल्पनातीत दुर्दशा का शिकार है, जैसा कि विश्वेश्वरजी खुद स्वीकार करते हैं और सभी सजग नागरिक और विचारक स्वीकार करते हैं। लेकिन तब क्या उससे यह निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि गुलामी के दौर में लेखकों और विचारकों ने देश को आजादी के लिए जगाने का जो काम किया वह गलत था, उस वक्त उन्हें भी संत्रास का ही गीत गाते बैठना चाहिए था ? उससे यह निष्कर्ष भी तो निकल सकता है कि एक काम जो शुरू किया गया था, एक सपना जो देखा गया था, वह पूरा नहीं हुआ या भटक गया या कि उससे उल्टे ही नतीजे निकले या कि एक सीमित उपलब्धि के बाद देश की स्वाधीनता (अर्थात् जन-स्वाधीनता) का संग्राम अब अपने नये चरण में पहुँच गया है जो अपने लिए नया समाधान माँगता है। समाधान पहले भी जनसाधारण को साथ लेकर किये गये संघर्ष में ही मिला था और हमारी समझ से आज की स्थिति में भी जनसाधारण को साथ लेकर किये गये संघर्ष में ही मिलेगा। हम ऊपर कह चुके हैं कि 'सामाजिक संदर्भ से जुड़ने की बात बड़ी है, उससे परिप्रेक्ष्य एकदम बदल जाता है। साहित्यकार का भी और उसके साहित्य का भी। फिर यह निपट अकेले व्यक्ति का संत्रास नहीं रहता, उसका स्थान कोई दूसरा सामाजिक भाव लेने लगता है।' उससे हमारा यही आशय था। अपने जीवन के इस नये पर्याय में देश को एक नयी मुक्ति-चेतना और नये मुक्तिसंघर्ष की अपेक्षा है। नया साहित्यकार क्यों प्रस्तुत क्षण की इस चुनौती की ओर से नितांत उदासीन, अपने अकेलेपन की ग्रंथियों में लिपटा हुआ बैठा है ? इस प्रसंग में 'क्या मेरा यह कहना गलत है कि जिस प्रकार इस संत्रास का भाष्य किया जाता रहा है उससे उसका कोई स्पष्ट चेहरा उभरकर सामने नहीं आता ? क्या इसका कारण यही नहीं है कि उस

संत्रास को सामाजिक स्थितियों से, देश-काल से नहीं जोड़ा गया ... और उसे एक सनातन संदर्भ के रूप में प्रस्तुत किया गया ? क्या सामाजिक स्थितियों से जोड़ने पर उस शब्द का भावार्थ बिलकुल नहीं बदलता ? मैं समझता हूँ कि बदलता है और बहुत बदलता है। इतना कि वह शब्द अनुपयुक्त हो जाता है, ग़लत मतलब देनेवाला और भटकानेवाला हो जाता है। यह आकस्मिक बात नहीं है कि जिन लोगों के यहाँ संत्रास की सबसे अधिक चर्चा होती है उनके यहाँ साहित्य की सामाजिक भूमिका को सबसे अधिक नकारा जाता है।' — जैसा कि, हमें पढ़कर आश्चर्य हुआ, विश्वेश्वरजी ने भी अपने बृहत् लेख में नकारा है, बावजूद सामाजिक दृश्यपट के अपने उस कच्चे जख्म जैसे तड़पते और तिलमिलाते हुए अनुभव और प्रत्यक्ष अभिज्ञता के, जिस पर उनकी स्वानुभूति का स्वाक्षर सर्वत्र मिलता है। ऐसा क्यों हो ? हम क्यों इस पूर्वग्रह के दास बने रहें कि साहित्य की सामाजिक भूमिका उसको स्खलित करती है ? साहित्य क्यों जनचेतना का विधायक और जनसंघर्ष का पुरोधा न बने ? उसकी नियति ऐसी क्यों हो कि वह व्यक्ति के भीतर सिमटकर रह जाये ? हमारे देखने में युग का केन्द्रीय स्वर संत्रास नहीं, भटकती हुई विद्रोह-चेतना है जो अपने लिए दिशा चाहती है। साहित्यकार उसकी ओर से उदासीन-पराङ्मुख क्यों बना रहे ? क्यों वह आगे बढ़कर उसको समझने की, उसके भीतर पैठने की, उसको वाणी देने की कोशिश न करे ? शायद उसे यह भय है कि उसका साहित्य उथले सामाजिक प्रचार का साहित्य हो जायेगा, उसकी गहराइयाँ जाती रहेंगी, उसके कलात्मक कोण मर जायेंगे ! हम नहीं समझते कि समाज को निवेदित, समाज से प्रतिबद्ध-प्रतिश्रुत साहित्य की ऐसी कोई बाध्यता है। जिस प्रकार जीवन से, उसी प्रकार साहित्य से व्यक्ति उतना ही कुछ पाता है जितना कुछ वह पहले उसके भीतर डालता है। इस भय का निराकरण तो साहित्यकार को स्वयं अपने भीतर से करना होगा। जीवन का संस्पर्श जितना ही सच्चा और गहरा होगा उतनी ही इस बात की संभावना होगी कि उसके भीतर से रूप लेनेवाला साहित्य सच्चा हो, गहरा हो, स्थायी हो, नये मूल्यों की सृष्टि करनेवाला हो और ऐसा हो जो कला की व्यंजना-शक्ति और उसकी प्रेषणीयता को एक में घुलाकर दोनों का एक आयाम बना सके। जागरूक ढंग से, अपने विवेक के आधार पर अपने संदर्भ से जुड़ने का अर्थ यही है — शुद्ध जैविक स्तर पर तो सभी अपने परिवेश से जुड़े होते हैं (इस तरह कि परिवेश, और वह भी समग्र-संश्लिष्ट परिवेश नहीं उसका एक अंश, जड़ दर्पण के समान हमारे लेखन में प्रतिबिंबित होता रहे) और आदमी तो आदमी, वह गाय भी अपने परिवेश से जुड़ी हुई है जो अपने परिवेश की घास चर रही है और वह मेंढक भी जो कुएँ की तलहटी में बैठा हुआ

आसमान से बारिश गिरते ही अपनी टरटर शुरू कर देता है, बल्कि वह तो अक्सर बारिश गिरने से पहले ही जान जाता है कि बारिश गिरनेवाली है । पर वह संदर्भ से, परिवेश से जुड़ना नहीं है — सार्थक रूप में परिवेश से जुड़ना सचेत और सजग और विवेकशील रूप में जुड़ना है । साहित्यकार अधूरा साहित्यकार है जहाँ पर वह केवल शब्दशिल्पी है — अपनी सीमाओं के भीतर वह और भी बहुत कुछ होता है, सबसे पहले तो साधारण लोगों से अधिक सचेत नागरिक, फिर दार्शनिक, इतिहासकार, समाज-वैज्ञानिक और और भी जिस दिशा में उसकी विशेष अभिरुचि हो । साहित्यकार जब अपनी इन सभी वृत्तियों से अपने देश-काल के भीतर, अपने परिवेश के भीतर, पैठता है तब हम समझते हैं कि अभिव्यक्ति के नये आयाम भी खुलते हैं — और समाज के लिए आगे बढ़ने की कुछ नयी दिशाएँ भी खुलती हैं । और संदर्भ से जुड़ने की बात कहने से हमारा यही अभिप्राय था ।

समाज की इन दुर्वह स्थितियों को, जिनके चलते जीना असंभव हो रहा है, बदलना ही होगा । बहुत कुछ तोड़ना होगा, नया बहुत कुछ बनाना होगा । लेकिन क्या तोड़ना और कैसे तोड़ना है और नया क्या बनाना है और कैसे बनाना है, इसकी संज्ञा आवश्यक है; केवल उग्रता से भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि केवल उग्रता से भी आज तक इतिहास में कभी कोई सार्थक विद्रोह या क्रान्ति नहीं हुई ।

जहाँ तक 'संत्रास' शब्द को विदेशी संदर्भों से जोड़ने की बात है, उसके संबंध में हमें इतना ही कहना है कि इन विदेशी संदर्भों के साथ जुड़कर ही उसका पदार्पण हुआ था । मैंने तो केवल एक तथ्य की ओर संकेत किया है । लेकिन हम मानते हैं कि आज की इस छोटी सी दुनिया में इस तरह की घेरेबंदी बिलकुल गलत है, शब्द कहीं से भी लिया जा सकता है, लेकिन वह जड़ तभी पकड़ता है, सार्थक तभी होता है, जब अपने देश-काल से जोड़कर उसे अपने लिए नये रूप में परिभाषित किया जाता है ।

जहाँ तक बंधुवर चंदन नेगी की बुद्ध के विषादवाली बात है, हमें इतना ही कहना है कि बुद्ध के उसी विषाद में से बुद्ध की करुणा भी निकलती है और वह भी बुद्ध ही थे जिन्होंने बहुजनहिताय और बहुजनसुखाय समाज की संरचना की बात कही थी । निस्संदेह आधुनिक संत्रास का एक आध्यात्मिक स्तर भी है और वह उसका अधिक महत्वपूर्ण स्तर है पर उसे बुद्ध के विषाद के साथ तदाकार करके देखना कदाचित् बहुत संगत न होगा ।

संवादहीनता

'आधुनिक' साहित्य की एक बड़ी समस्या है 'संवादहीनता' — आदमी क्या बात करे और किससे बात करे ... न तो समय है किसी के पास और न जी ही करता है ... शब्द सब घिस गये हैं ... भाषा दोमुँही हो गयी है, कहती कुछ है मतलब कुछ और होता है ... दो लोगों के बीच कहीं कोई सेतु नहीं है ... हम आप सभी तो चेहरा लगाये घूमते हैं, आदमी का अपना चेहरा कहाँ देखने को मिलता है ?

बात एकदम निराधार नहीं है। दूर जाने की जरूरत नहीं, खुद अपनी जिन्दगी पर एक नजर डालिए, खास करके अगर आप किसी महानगर में रहते हैं, क्योंकि यह समस्या मुख्यतः महानगरों के जीवन की है। चालीस लाख आदमी, पचास लाख आदमी, अस्सी लाख आदमी एक ही शहर में रहता है लेकिन जिन थोड़े से लोगों से अपना काम पड़ता है उन्हीं से अपने को मतलब है बाकी किसी से अपने को मतलब नहीं। सम्बन्ध जितने हैं, सब प्रयोजन के सम्बन्ध हैं, शुद्ध मानवीय स्तर पर भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, इसकी संज्ञा ही जैसे लुप्त हो गयी है — इस सीमा तक कि हम अपनी कोठरी या दो कमरे के अपने फ्लैट से लगे हुए फ्लैट तक के अपने पड़ोसी को नहीं जानते-पहचानते। सुबह से लेकर रात तक मात्र जीवन-यापन का चक्कर चलता रहता है, जिसमें काम भले बहुत न होता हो व्यस्तता भरपूर रहती है। एक अजीब से शिकंजे में जकड़ी हुई जिन्दगी जिसमें आदमी पूरे वक्त भाग रहा है और ठहरने या सुस्ताने के लिए कहीं वक्त नहीं है क्योंकि सबके दिमाग में एक न एक चक्की चलती रहती है — ज्यादा पैसा कमाने की, फिर उससे ज्यादा पैसा कमाने की, या फिर सिर्फ पेट भरने की। सारी भागमभाग पैसे के लिए है — जहाँ पेट खाली है वहाँ भी और जहाँ पेट भरा है वहाँ भी, क्योंकि बात हम चाहे जितनी अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति और अध्यात्म और अपरिग्रह की करें, समाज़ जो इन तेईस वर्षों में यहाँ बनकर तैयार हुआ है वह 'एक निर्लज्ज पैसा-पूजक, सफलता-पूजक समाज है जिसमें सामाजिक मान-सम्मान और प्रतिष्ठा की एक और केवल एक कसौटी है, धन। स्पष्ट है कि जीवन के मूल्य जहाँ इस सीमा तक उलट-पुलट गये हों कि प्रतिष्ठा केवल धन से मिलती हो वहाँ यही स्वाभाविक है

कि सबकी दृष्टि केवल धनोपार्जन पर लग जाये, बिना इसकी चिन्ता किये कि वह धन किन साधनों से आता है, क्योंकि धन का होना अपने आप में एक पूर्ण और अटल सत्य है जिसके बारे में और कोई पूछताछ या छानबीन करना आचार-संहिता के विरुद्ध है।

जहाँ फिर यही एक लक्ष्य हो और सब कुछ पैसे की ही धुरी पर घूम रहा हो वहाँ फिर स्नेह और सौहार्द के मानवीय सम्बन्धों के लिए कहाँ जगह, क्योंकि सब तो प्रकारान्तर से उस दौड़ में एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। फलतः सृष्टि होती है एक ऐसे निर्वैयक्तिक समाज की जिसमें कोई किसी का नहीं है, काम की बात के अलावा कुछ भी किसी के पास किसी से कहने के लिए नहीं है, न फ़ुर्सत है उस दौड़ में ठहरने की या किसी से बात करने की, और न दायें-बायें कुछ भी नजर आता है क्योंकि आँखों पर वही पट्टियाँ चढ़ी हैं जो घोड़े की आँखों पर चढ़ा दी जाती हैं ताकि वह बस सामने को देखे, और सामने पैसा है या कम से कम उसका स्वर्णमृग !

इस तरह यंत्र-युग अपनी विशेष जीवन-प्रणाली के साँचे में ढालकर आदमी को भी एक यंत्र बना देता है, आदमी मशीन का मालिक न रहकर मशीन का गुलाम हो जाता है, शरीर से, मन से, और उसके इस मशीनीकरण की प्रक्रिया में जो कमी रह जाती है उसे पूरा कर देती है पैसा-पूजा जो इस महाजनी समाज का विशेष गुण है। ऐसे में फिर कहाँ का संवाद कैसा संवाद। प्रयोजन की वार्ता संवाद नहीं होती, संवाद वह है जो दो व्यक्ति अपने सुख-दुख, अपनी आशाओं-निराशाओं, अपने स्वप्नों और दुःस्वप्नों के बारे में एक दूसरे से करते हैं और इस-लिए करते हैं कि एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकें, पहचान सकें और मुमकिन हो तो इस धरती को थोड़ा सँवार सकें, कुछ ज्यादा अच्छी तरह जीने लायक जगह बना सकें। जाहिर है कि उस आदमी के साथ मेरा कोई संवाद नहीं हो सकता जिसे केवल अपने लाइलेंस-परमिट या दल बदलने पर मिलनेवाली लंबी रकम या गद्दी की चिन्ता है और जो सोते-जागते केवल उसी की बात करता है, शायद इसलिए कि वह दूसरा कुछ न तो जानता है और न शायद जानना चाहता है क्योंकि धनोपार्जन उसकी एकमात्र साधना है, उसका अर्जुन का मत्स्यवेध, और शेष सभी कुछ समय का अपव्यय। कहने की जरूरत नहीं, ऐसे आदमी से न तो कोई बात हो ही सकती है और न कोई भला आदमी, रुचिसंपन्न आदमी, करना ही चाहेगा। वहाँ संवादहीनता की स्थिति वास्तविक है, सार्थक है।

लेकिन अपने ही जैसे दूसरे साधारण व्यक्ति से संवादहीनता की स्थिति क्यों

हो, यह बात समझ में नहीं आती। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यही महाजन संप्रदाय समाज के तन्त्र पर चढ़ा बैठा है, उसी की चलायी हुई आर्थिक प्रणाली से समाज चलता है और धीरे-धीरे उसी साँचे में ढल जाता है। साधारण जन भी उसी समाज का अंग हैं, इसलिए वे भी अपने आचार में उससे प्रभावित होने के लिए बाध्य हैं। इतना ही नहीं, प्रचार के सबसे शक्तिशाली माध्यमों पर भी उसी महाजन संप्रदाय का एकछत्र अधिकार है जिसके फलस्वरूप विचारों और मूल्यों के स्तर पर भी, अपने खरीदे हुए लेखकों और बुद्धिजीवियों की सेवाओं का उपयोग करते हुए, वह समाज का नियामक और विधायक बन जाता है। यह बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। लेकिन यहाँ पर दो-तीन बातें विचार करने की हैं जिनसे इस स्थिति में मार्जन की संभावना उत्पन्न होती है। एक तो यह कि अगर रोग का निदान ठीक हो तो उसका उपचार भी किया जा सकता है। अर्थात् इसी यंत्र-युग के चौखटे में रहते हुए उसके अमानवीकरण के प्रभाव को एक सीमा तक कम किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, जीवन के स्तर पर उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हुए मूल्यों के स्तर पर उसे अस्वीकार किया जा सकता है, जो एक कठिन काम तो है पर असंभव नहीं। और अगर अनुभव से सिद्ध हो कि ऐसा करना असंभव है, तो उस चौखटे को भी तोड़ने या संशोधित करने की बात सोची जा सकती है, जो कि थोड़ी-थोड़ी सोची भी जाने लगी है। बीटनिक विद्रोह आदि उसी की तरफ इशारा करते हैं। जो हो, एक अच्छी बात इस स्थिति में यह है कि उस महाजन का यह साम्राज्य जनसाधारण का खून चूसकर ही खड़ा होता है, उसकी संपदा की वृद्धि की प्रक्रिया ही जनसाधारण की विपदा की वृद्धि की भी प्रक्रिया होती है। यह ठीक है कि वह अपनी पूँजी में से कुछ टुकड़े फेंककर जनसाधारण के एक छोटे से अंश को अपने साथ मिला लेता है, मगर कितनों को ? बहुत बड़ी संख्या हर हालत में उनकी ही रहती है जो दलित हैं, पीड़ित हैं। जभी तो आज अपने देश में यह स्थिति है कि छप्पन करोड़ के देश में दो सौ परिवार समस्त राष्ट्रीय सम्पत्ति के नब्बे प्रतिशत के अधिकारी हैं, जिसका ही यह विनाशकारी परिणाम है, जो एक नंगे और भयानक सत्य के रूप में देश को घूर रहा है, कि मुट्ठी भर अमीर लोग और भी अमीर हो गये हैं और करोड़ों गरीब और भी गरीब हो गये हैं। इसका एक ही नतीजा हो सकता है, व्यापक विध्वंस, जिसके पहले चरण हम आज अपने चारों तरफ देख सकते हैं।

प्रकट है कि जनसाधारण में, जो कि समाज का दुखी और पीड़ित अंग है, बहुत ही गहरा असंतोष है जो अब विस्फोट की सीमा पर पहुँच गया है, और

यहाँ संवादहीनता का प्रश्न ही नहीं उठता । वे तो उबल रहे हैं कुछ कहने को, कुछ करने को, अपनी तकलीफ दूसरे तक पहुँचाने को, दूसरे की सुनने को, सबके साथ मिलकर संगठित उद्योग करते हुए कहीं पहुँचने को जहाँ अपने को भी थोड़ी-सी सुख-सुविधा मिल सके। अवकाशभोगी वर्ग की 'संवादहीनता' का पल्ला पकड़कर गरीब कहाँ पहुँचेंगे, संवाद तो उनके जीने की जरूरी शर्त है ।

अगर समाज को, आज की विकृत और दुःसह जीवन-स्थितियों को, बदलना है तो आदमी और आदमी के बीच सनातन संवादहीनता के सिद्धान्त को अस्वीकार करना होगा क्योंकि यह सिद्धान्त प्रकारान्तर से उसी महाजन वर्ग और उनके हाथ बिके हुए या उसकी वैचारिक अफीम पिये हुए उसके हवालियों-मवालियों का सिद्धान्त है अर्थात् एस्टैब्लिशमेंट का, जिसका स्वार्थ वर्तमान स्थितियों को ज्यों का त्यों बनाये रखने में है, जिस पर कोई आँच न आने देना उनका सबसे पहला धर्म है, और जो आदमी और आदमी के बीच संवाद की स्थिति को असंभव बतलाकर या उसके सम्बन्ध में अनास्था पैदा करके परिवर्तन की संभावना के मूल पर ही आघात करते हैं। अतः हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि ऐसे लेखक और विचारक जो अन्य स्तर पर समाजवाद का पक्ष-समर्थन करते हुए 'अजनबीपन' और 'संवादहीनता' की बात करते हैं, उनका एस्टैब्लिशमेंट-विरोध बिलकुल सतही और औपचारिक होता है और वे जाने-अनजाने एस्टैब्लिशमेंट को ही मदद पहुँचाते हैं और सच्चे समाजवाद या स्वस्थ और सुंदर मानव समाज की स्थापना के दिन को और दूर ठेल देते हैं ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके सम्बन्ध में एक नये कथाकार बन्धु की प्रतिक्रिया इस प्रकार है :

'मैं आपके इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ ... आपका यह निष्कर्ष सिर्फ अजनबीपन के लिए ही लागू होता है । मैं स्वयं यह मानता हूँ कि अजनबीपन पर लिखा गया अधिकांश साहित्य नकली और इसीलिए सतही भी है । मैं इस बात से सहमत हूँ कि ऐसा साहित्य जाने या अनजाने व्यवस्था को ही मदद पहुँचाता है और सच्चे समाजवाद के रास्ते में बाधक सिद्ध होता है । लेकिन यही बात संवादहीनता के विषय में कतई लागू नहीं होती । 'आदमी और आदमी के बीच सनातन संवादहीनता के सिद्धान्त को अस्वीकार' करने का सवाल पैदा ही नहीं होता । संवादहीनता एक यथास्थिति है जो हमारे सामाजिक ध्रुवीकरण का परिणाम है, इस यथास्थिति को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा । आदमी और आदमी के बीच संवाद स्थापित करने की वकालत करना एक कामचलाऊ रफूगरी

के अलावा और कुछ नहीं है। अगर संवादहीनता की स्थिति को समाप्त करना है तो हमें सबसे पहले सामाजिक ध्रुवीकरण को दूर करना होगा (जो इस औद्योगिक युग में लगभग असम्भव ही है) मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि संवादहीनता है और रहेगी । इसे नकारने की कोशिश करना आज के कटु यथार्थ से कतराने की साजिश है।'

अजनबीपन और संवादहीनता को यहाँ किस आधार पर अलगाया गया है, यह नहीं समझ में आया। हम तो अब तक यही समझते आये हैं कि दोनों मूलतः एक ही चीज हैं जिनके ये दो नाम या दो कोण हैं। 'आदमी और आदमी के बीच संवाद नहीं है और न होने की संभावना है, इसीलिए सब एक दूसरे के लिए अजनबी हैं' — हम तो इस बात को अब तक कुछ ऐसा ही समझते आये हैं। हमारी बात या तो दोनों पर लागू होती है या किसी पर नहीं होती। यह तो हमारी समझ में आता है कि किसी को हमारी स्थापना से आद्यन्त विरोध या असहमति हो लेकिन यह हमारी समझ में नहीं आता कि अजनबीपन के लिए तो वह बात ठीक लगे और संवादहीनता के लिए गलत। वस्तुतः उनकी बात में स्वयं थोड़ा सा अंतर्विरोध या कम से कम अनिश्चय दिखायी पड़ता है। जैसा कि ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है उन्होंने अपनी बात शुरू यह कहकर की कि उन्हें मेरी उस पूरी बात से असहमति है लेकिन जरा ही देर में शायद उन्हें लगा कि नहीं, ऐसा नहीं है, उस बात में निश्चय ही कुछ सार है जिससे असहमत नहीं हुआ जा सकता। अतः थोड़ी सी सहमति के विकल्प में पड़कर उन्हें यह बीच की स्थिति अपने लिए अधिक रुचिकर या निरापद जान पड़ी। फिर संवादहीनता के सन्दर्भ में उस बात को स्वीकारते हुए अन्त तक आते-आते उन्होंने उसको भी अस्वीकार कर दिया। हम इससे एक ही निष्कर्ष निकालते हैं कि उनके मन में, हमारी बात को लेकर, कोई बड़ा अवरोध है जिसको और गहराई में जाकर समझने की जरूरत है।

आधुनिक यंत्र-युग और महाजनी व्यवस्था के अन्तर्गत जो संवादहीनता की स्थिति उत्पन्न होती है उससे हम इनकार नहीं करते, जैसा कि हम अपनी इस चर्चा के सन्दर्भ में पहले ही उचित विस्तार के साथ कह चुके हैं। इतना ही नहीं, हमने तो यह भी कहा कि 'जीवन के स्तर पर उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हुए, मूल्यों के स्तर पर उसे अस्वीकार किया जा सकता है, जो एक कठिन काम तो है पर असम्भव नहीं। और अगर अनुभव से सिद्ध हो कि ऐसा करना असम्भव हो तो उस चौखटे को भी तोड़ने या संशोधित करने की बात सोची जा सकती है, जो कि थोड़ी-थोड़ी सोची भी जाने लगी है। बीटनिक

विद्रोह आदि उसी की तरफ इशारा करते हैं।' इसलिए हमारी समझ में नहीं आता कि इन बन्धु की आपत्ति का आधार ठीक कहाँ पर है। हम उनकी इस बात से पूरी तरह सहमत हैं कि 'अगर संवादहीनता की स्थिति को समाप्त करना है तो हमें सबसे पहले सामाजिक ध्रुवीकरण को दूर करना होगा।' हम उनकी इस बात से भी काफी दूर तक सहमत हैं कि यह बात 'इस औद्योगिक युग में लगभग असंभव ही है।' हमने भी ऊपर जो कुछ कहा है उसका यही मंतव्य है। बल्कि इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए हमने 'उस चौखटे को तोड़ने या संशोधित करने की बात' भी कही है। यह तो एक जीवन्त सामाजिक स्थिति से आँखें चार करने की बात हुई। व्यक्ति के समान ही समाज भी रोगी हो सकता है। तब उसके रोग का भी निदान करने की और फिर उसका उपचार ढूँढ़ने की जरूरत होती है। आदमी को अगर इस धरती पर रहना है और स्वस्थ ढंग से रहना है तो उसे अपना इलाज ढूँढ़ना ही पड़ेगा। इस बात से इनकार करना व्यर्थ है कि आज की स्थिति स्वस्थ नहीं है। विश्व समाज में ध्रुवीकरण के कितने ही भयानक रूप आज हमारे सामने हैं। एक ओर वे शक्तियाँ जिनके पास परमाणु बम हैं और दूसरी ओर वे जो अपनी साधारण सुरक्षा के लिए भी दूसरे शक्तिशाली राष्ट्रों पर आश्रित हैं। एक ओर योरप और अमरीका जैसे उन्नत महादेश, दूसरी ओर (चीन और जापान को छोड़कर) एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देश। एक ओर अतुल वैभवशाली छोटा सा वर्ग, दूसरी ओर भयंकर गरीबी में डूबी हुई विशाल साधारण जनता। एक ओर गोरे, दूसरी ओर काले और भूरे। एक ओर उच्चवर्ण, दूसरी ओर अछूत। इन्हीं विषमताओं ने आज संसार की और अपने देश की यह स्थिति कर रक्खी है। स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है कि यह दुनिया अब ज्यादा दिन चलनेवाली नहीं है। बड़ी शक्तियों के जैसे आपसी तनाव हैं; छोटी-बड़ी जैसी लड़ाइयाँ चल रही हैं या चलकर कुछ दिनों से बंद हैं और फिर किसी दिन किसी घड़ी शुरू हो सकती हैं और सारी दुनिया को अपनी लपेट में ले सकती हैं; आधुनिक विज्ञान ने जैसी अकल्पनीय संहारशक्ति कुछ राष्ट्रों के हाथ में सौंप दी है, अपना-अपना प्रभुत्व-क्षेत्र बढ़ाने के सन्दर्भ में उनकी जैसी रीति-नीति है — सबको देखते हुए अब सौ-पचास बरस आगे की बात सोचना भी कठिन हो रहा है क्योंकि कोई नहीं जानता तब यह धरती होगी भी कि नहीं, और होगी तो उसकी क्या शकल होगी और उसमें कितने और कौन लोग होंगे। कहने की जरूरत नहीं, अपने वर्तमान रूप में वह जिस ढंग से आगे बढ़ रही है, उसके सम्बन्ध में इस प्रकार का भय काल्पनिक नहीं बिलकुल वास्तविक है

और संसार के विचारक उससे आक्रान्त हैं ।

व्यक्ति के स्तर पर भी आधुनिक विज्ञान और टेक्नॉलोजी का वरदान कैसे और किस सीमा तक अभिशाप बनता जा रहा है, इसकी कल्पना भी हम पिछड़े देशों के लोग नहीं कर सकते । इसका दर्द तो वही समझते हैं जो उसकी गुंजलक में हैं । आपाधापी की उस दुनिया में आदमी और आदमी के बीच जो एक बिरानापन, अजनबीपन आता चला जा रहा है; सहज मानवीय सम्बन्धों की गर्मी एक ठंडी उदासीनता का रूप लेती जा रही है; वैयक्तिक सम्बन्धों को धकियाकर नितान्त निर्वैयक्तिक सम्बन्ध उसका स्थान लेते जा रहे हैं; लोगों की अपनी अलग-अलग दुनिया बराबर सिकुड़ती और छोटी होती चली जा रही है; परिवार की परिधि सिमटकर अपने बीवी-बच्चे तक रह गयी है; प्यार का अर्थ सिमटकर केवल सेक्स रह गया है; सहानुभूति, मैत्री, सत्य-निष्ठा, त्याग आदि मनुष्य की सभी उदात्त भावनाओं को भावुकता की संज्ञा दी जाने लगी है; प्रकृति से उसका सम्पर्क जैसा टूट गया है, जरा सी खुली धूप, जरा से खुले आसमान के लिए वह जिस कदर भूखा है; 'सभ्यता' के नाम पर वह जिस तरह अपने पहनने-ओढ़ने, खाने-पीने, रहन-सहन, बात-व्यवहार में झूठे शिष्टाचार का बंदी हो गया है; आत्मिक स्तर पर उसका जीवन जितना दरिद्र होता जा रहा है और बैंक बैलेंस जिस तरह उसकी जीवनोपलब्धि की एकमात्र कसौटी बनता जा रहा है — ये बड़ी सांघातिक स्थितियाँ हैं जिनका कोई स्वस्थ समाधान आदमी को खोजना होगा अगर वह खूबसूरती से जीना चाहता है, यानी इस तरह कि उसे जीने का रस भी मिले और वह अपनी आन्तरिक क्षमताओं को विकसित भी कर सके ।

इनमें से एक भी काम आसान नहीं है । 'लगभग असंभव' भी उसे कह सकते हैं क्योंकि आधुनिक सभ्यता बहुत कुछ उस जिन के समान दिखायी पड़ती है जो एक बार बोतल से बाहर आ जाने पर फिर वापस उसी बोतल में जाने को तैयार नहीं । भले आगे खंदक हो मगर वैज्ञानिक सभ्यता के पाँव तो आगे ही बढ़ेंगे, पीछे की ओर उसे क्योंकर फेरा जाय ? लेकिन अगर मानव जाति को सुखपूर्वक, शान्तिपूर्वक जीना है तो ऐसा ही कुछ करना होगा । यही जिजी-विषा उसे नयी खोजों के रास्ते पर लगायेगी और लगा रही है । एक से एक प्रलयंकर परमाणुबमों का जो विराट् हथियारखाना बड़ी शक्तियों ने जमा कर रखा है, उनको नष्ट करने की और आगे उस दिशा में कुछ भी न करने की जो बातें चल रही हैं, वह आखिर क्या है ! उसकी प्रेरणा अंततः इसी जिजीविषा के भीतर से आती है । यह भी असंभव नहीं कि ये अनन्त बातें चलती ही रहें

और इसी बीच महाविस्फोट हो जाय, लेकिन हम विश्वास करना चाहते हैं कि मानव प्रज्ञा, आत्मरक्षा के हित में ही, उस महाप्रलय से बचने का कोई रास्ता अवश्य ढूँढ़ निकालेगी। जो हो, मूल बात यह है कि विज्ञान हो या कला हो या कोई भी शास्त्र हो, सब कुछ आदमी से है और आदमी के लिए है। इसीलिए जब आज मानवता इस तरह की एक अंधी गली में आकर फँस गयी है, उसको वहाँ से निकालकर फिर खुले मैदानों या प्रशस्त राजमार्ग पर ले आने का दायित्व भी सबसे पहले लेखकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, विचारकों का ही है। प्रश्न गंभीर है और उसकी गंभीरता से हम आँख भी नहीं चुराना चाहते; हम यह तक मानने को तैयार हैं कि जैसे मानव इतिहास में बहुत से नेक और अच्छे काम, जिनके पीछे मनुष्य जाति की हित-चिन्तना थी, विफल सिद्ध हुए हैं, उसी तरह यह भी विफल सिद्ध हो सकता है। तथापि हमें तो अन्त तक यही उद्योग करना है कि इस धरती का नाश न हो और सब लोग यहाँ सुख-शान्ति से रहें। इसीलिए हमारा विरोध उन लोगों से है जो इस वस्तुस्थिति में से, अर्क की तरह खींचकर, अपना यह नकारात्मक दर्शन निकाल लेते हैं कि जो है सो है, उसको बदला नहीं जा सकता, सब चेष्टा व्यर्थ है, सब एक दूसरे के लिए अजनबी हैं, किसी का किसी से कोई सार्थक संवाद स्थापित नहीं हो सकता। यह भी एक नये तरह का नियतिवाद है जो मनुष्य की क्रियाशीलता को नष्ट करता है, उसे जड़ बनाता है। हम नहीं जानते, संभव है नियति नाम की कोई चीज हो, शायद है भी, जो अपने ढंग से चलती है और आदमी के सब किये-धरे पर पानी फेर देती है। लेकिन अगर ऐसी कोई सत्ता हो भी तब भी आदमी निष्क्रिय होकर बैठा तो नहीं रहता, अपने करने का जो कुछ है, करता ही है। बज्र नियतिवादी भी इतनी आपेक्षिक स्वतंत्रता तो स्वीकार करता ही है।

हमारा कहना इस संदर्भ में केवल इतना है कि संवादहीनता पर विचार करते समय उसे किसी दर्शन से न जोड़कर सामाजिक स्थिति से जोड़कर देखिए, जो आदमी के किये से ही अस्तित्व में आयी है और उसी के किये से बदली भी जा सकती है। लेकिन बदली जा सकती है तभी जब कि आदमियों के बीच संवाद हो, उसके बिना कुछ नहीं हो सकता। यह तो बहुत बड़ा काम है, दुनिया का रंग-ढंग बदलना, चार लोगों के संग मिलकर करने का कोई छोटा सा भी काम होता है तो आपस में राय-बात करनी पड़ती है। वह कैसे संभव है अगर उनके बीच संवादहीनता की स्थिति हो ?

जहन्नुम में जाये दुनिया, हम तो कहते हैं आदमी अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी भी कैसे जी सकता है जब तक अपना दुख-सुख दूसरे से न कहे और दूसरे का

दुख-सुख न सुने ? मनुष्य का जीवन इसी आपस के संवाद पर टिका है, इसे हटा दो तो फिर आदमी और दूसरे जानवरों में अंतर ही क्या रह जाता है, वैसे तो कहते हैं कि उन जानवरों के पास भी अपनी संवाद की भाषा होती है। चार दोस्तों की टोली में बैठकर, कॉफी और बियर की चुस्कियों और हँसी-ठहाकों के बीच फैशन के तौर पर संवादहीनता की बात करना और बात है और वास्तविक संवादहीनता को हृदयंगम करना बिलकुल दूसरी। यह एक बिलकुल अमानवी स्थिति है जिसे आदमी कभी पचा नहीं सकता और जहाँ झेलने के लिए बाध्य है वहाँ कितनी ही तरह से टूटकर बिखर जाता है, पागल हो जाता है आत्महत्या कर लेता है। संवादहीनता की स्थिति एक अभिशप्त स्थिति है; उसी रूप में उसे देखा-समझा जा सकता है। वह हल्के ढंग से बात करने की चीज नहीं।

महाजनी समाज में किन स्थितिमूलक और वैचारिक कारणों से यह संवादहीनता उत्पन्न हो सकती है, इस पर हम विचार कर चुके हैं। यहीं पर पादटिप्पणी के रूप में हम इतना और कह दें : हमारी बात का मतलब यह नहीं है कि महाजनी समाज में सब लोग महाजन या पूँजीपति होते हैं। पूँजीपतियों की संख्या थोड़ी ही होती है, (बड़ी संख्या तो मजदूरों की ही होती है और उनमें परस्पर प्रतियोगिता का वैसा भाव भी नहीं होता) लेकिन संख्या में थोड़े होते हुए भी उनकी शक्ति विराट् और सामाजिक स्थिति विधायक होती है। उत्पादन के सब साधन उनके हाथ में होते हैं, प्रचार के सब साधन उनके हाथ में होते हैं—और उस प्रचार को अनुकूल वातावरण मिलता है समाज की आर्थिक संरचना में और उसके चौखटे के भीतर रूप ग्रहण करनेवाली सामान्य जन की मानसिक संरचना में।

लेकिन दुर्भाग्यवश समाजवादी देशों से भी हमें इस प्रकार का अपेक्षित समाधान नहीं मिल सका। यह ठीक है कि वहाँ कोई किसी का प्रतियोगी नहीं है : सब काम करते हैं और उसकी मजदूरी पाते हैं। स्पष्ट ही ऐसे दो व्यक्तियों के बीच समाज में वैसी कोई प्रतियोगिता नहीं हो सकती जैसी उन दो उत्पादकों में जो अपने निजी लाभ के लिए उत्पादन कर रहे हैं। यह भी ठीक है कि वहाँ न तो पैसे की प्रभुता और प्रतिष्ठा है और न दो व्यक्तियों के बीच केवल पैसे का नाता। यह भी ठीक है कि इसी कारण से वहाँ 'संवादहीनता' का कोई दर्शन नहीं खड़ा किया गया और न प्रचार के विराट् साधनों की सहायता से इस तरह का कोई प्रचार वहाँ पर किया जाता है। समाज की आर्थिक संरचना वैसी नहीं है। ये सब संवाद के अनुकूल स्थितियाँ हैं। लेकिन दो व्यक्तियों के

बीच संवाद हो इसके लिए जरूरी है कि लोग मुक्त होकर लिख-बोल सकें। अगर इसमें कहीं कोई बाधा हो तो संवाद नहीं हो सकता, अर्थात् वह मुक्त, हार्दिक संवाद जिसकी हम बात कर रहे हैं। इस तरह एक नये प्रकार की संवादहीनता का जन्म होता है, जिसके पीछे भय है, जब कि पूँजीवादी देशों में दिखायी पड़नेवाली संवादहीनता के पीछे एक गहरी उदासीनता होती है जो एक ऐसे निर्वैयक्तिक समाज के भीतर से पैदा होती है जिसका एकमात्र आराध्य देवता पैसा है। कारण जो भी हो, संदर्भ जो भी हो, व्याधि में अवश्य थोड़ी-बहुत समानता है।

मशीन का तंत्र कमोबेश दोनों ही समाज व्यवस्थाओं में एक जैसा है और दोनों की ही दिशा अधिकाधिक मशीनीकरण की ओर है। यह मशीनीकरण कहाँ तक आदमी का भी मशीनीकरण कर देता है, वह अनुसन्धान की एक अलग दिशा है — और अगर कर देता है तो उसका व्यावहारिक उपचार उपस्थित संदर्भ में क्या है, यह भी गहराई से सोचने की बात है।

संभव है इन्हीं समस्याओं की प्रेरणा से, इसी जगतव्यापी सन्दर्भ में से, हर्बर्ट मार्क्यूज़ जैसे विचारकों का जन्म हुआ हो और उस विचारधारा का जिसे न्यू लेफ़्ट या नव वाम कहा जाता है। इन्हीं लोगों ने सबसे पहले तीसरी दुनिया की बात कही — एशिया और अफ्रीका के वे हाल के स्वाधीन देश जो संसार की दोनों सबसे बड़ी शक्तियों के गुटों से अलग रहकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व बनाये रखना चाहते हैं, दोनों से मैत्री और संपर्क-साहचर्य रखना चाहते हैं, लेकिन किसी के साथ विलय हो जाने को तैयार नहीं; दोनों के अनुभव से लाभ उठाना चाहते हैं लेकिन अंधा अनुकरण किसी का भी नहीं करना चाहते, और इस प्रकार स्वतंत्र और निरपेक्ष रहकर अपने देश में ऐसे सुखी और समृद्ध समाज की रचना करना चाहते हैं जो उनके देश की आवश्यकताओं और सामर्थ्य, उसकी प्रतिभा और संस्कृति और सुखी समाज की उनकी परिकल्पना के अनुकूल हो। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में जहाँ आधुनिक विकास की दृष्टि से अब एक नयी यात्रा शुरू करनी हो, उस देश के समाज-वैज्ञानिकों, लेखकों और विचारकों का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाता है। हमारे देश के नये विकास का स्वरूप क्या हो, दिशा क्या हो, शान्त और सुखी समाज की हमारी क्या कल्पना है, अपने उस केन्द्रीय मानस-चित्र के अन्तर्गत हम अपने चारों ओर के परिवेश से क्या ग्रहण करें और क्या न ग्रहण करें — स्पष्ट है कि जहाँ इतने सब विकल्प अपनी आँखों के सामने हों, खुले मैदान की

तरह, वहाँ विचारक का विवेक भी उतना ही स्वच्छ होना चाहिए तभी वह ठीक निष्कर्षों पर पहुँच सकता है।

लेकिन हमें लगता है कि जैसी खुली संभावनाएँ हमें ऊपर से दिखायी पड़ती हैं, वास्तव में वैसी हैं नहीं। एक तो दुनिया बहुत छोटी हो गयी है — कम से कम भूगोल की दृष्टि से, इतिहास की दृष्टि से दूरियाँ जितनी भी हों। उसी अनुपात में परिवेश का दबाव बढ़ गया है, किसी भी देश के लिए अलग-अलग बैठकर अपना विकास करना संभव नहीं रहा, जिसके अच्छे-बुरे दोनों ही पहलू हैं। दूसरी चीज है इन सद्यःस्वाधीन, लेकिन कल के पराधीन, देशों के 'शिक्षित' लेकिन वास्तव में अर्द्ध-शिक्षित लोगों में घर करके बैठी हुई हीनता की ग्रंथि, जो उनके विवेक को ढँक लेती है और उन्हें अपने पुराने गोरे शासकों के अंधानुकरण की ओर ले जाती है। दोषपूर्ण शिक्षाप्रणाली का भी इसमें हाथ है जो अपने देश की सांस्कृतिक परम्परा पर बल नहीं देती और स्वभावतः व्यक्ति को सांस्कृतिक दृष्टि से दरिद्र और पर-मुखापेक्षी बना देती है। सैकड़ों वर्षों की पराधीनता से देश का आत्म-विश्वास यों ही खंडित रहता है, उसे नये संदर्भ में फिर से प्रतिष्ठित करना पड़ता है, जिसका एक ही ढंग है कि अपने देश के इतिहास को, दर्शन को, साहित्य और संस्कृति को, समाज-रचना को फिर से नये संदर्भ में देखा जाय, समझा जाय, जाँचा-परखा जाय और निर्ममता से परीक्षा करके पतनशील तत्वों को उसमें से छाँटकर अलग किया जाय और प्रगतिमूलक तत्वों को उनकी उचित प्रतिष्ठा दी जाय। तभी लोगों में यह स्वथ्य जातीय अभिमान जाग सकता है कि विश्व के सांस्कृतिक कोष में जोड़ने के लिए उनके पास भी कुछ है, और तभी उनके मन की यह हीनग्रंथि कट सकती है कि पश्चिम से आनेवाली हर चीज अमृत है।

पश्चिम तो इस समय अपने को अंधी गली के छोर पर पा रहा है, जिसके आगे रास्ता नहीं है। वह पूर्व की ओर देख रहा है जिसकी सभ्यता का इतिहास इतना पुराना है, जिसने संसार को उसके सब धर्म दिये हैं, जिसके मनीषियों के पास पता नहीं कितना क्या है जो संसार को अपनी वर्तमान विभीषिका से बाहर निकलने का रास्ता बता सकता है। लेकिन वह सब एक ढेर में गडमड पड़ा है — प्राक्-वैदिक और वैदिक युग के बहुत से सत्य के साथ पौराणिक युग और उसके भी बाद का बहुत-सा ढोंग — जिस सबको अलग करने की, छाँटने-बराने की जरूरत है, तभी इस कोरी भौतिकता के चक्रव्यूह से मुक्ति मिलेगी और तभी यह भी पता चलेगा कि क्यों भौतिक सुख-संपदा को माया कहकर उसका तिरस्कार करनेवाला भारत आज उस सबको भूलकर उसी माया को बटोरने में

जो जान से लगा है।

जो भी हो, यह तो समझना ही पड़ेगा कि पश्चिम से आनेवाली हर चीज अमृत नहीं है । संवादहीनता या अजनबीपन का दर्शन हो चाहे मनुष्य की मज्जागत दुष्टता का, सबकी वैसी ही निर्मम परीक्षा करनी होगी तभी उनका झूठ-सच मालूम होगा । और तभी यह तीसरी दुनिया बाकी दुनिया को नया कुछ दे सकेगी । भारत इस तीसरी दुनिया की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कड़ी है, लेकिन हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान समय में भारतीय विचारकों और लेखकों ने अपनी वह भूमिका नहीं निभायी जिसकी उनसे अपेक्षा थी।

मोटी बात यह है कि संवादहीनता एक अस्वाभाविक या ऐबनार्मल स्थिति है । स्वाभाविक स्थिति यह है कि दो व्यक्तियों के बीच मुक्त संवाद हो । अगर ऐसा नहीं हो पाता तो निश्चय ही उसके पीछे कोई गहरा कारण है । उस कारण को समझने और उस व्याधि को दूर करने की जरूरत है न कि उस अस्वाभाविक स्थिति को अकाट्य मानकर उसकी वकालत करने की ।

स्पष्ट है कि ऐसी दुनिया जो एक ओर चौबीसों घंटे की भाग-दौड़ में फँसी है और दूसरी ओर गोरे-काले, ऊँच-नीच, विजेता और विजित में बँटी हुई है, उसमें संवाद कठिन हो जाता है । कितनी ही जातियाँ हैं, कितने ही धर्म हैं । सब देश अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर बंद हैं । स्वार्थों की टक्कर है, जीवन-दृष्टियों की टक्कर है । एक दूसरे के प्रति संदेह है, मनोमालिन्य है, शत्रुता है । फिर संवाद को अपना ठीक आधार मिले तो कैसे मिले । लेकिन जरा देर के लिए इस स्थिति को पलट दीजिए और कल्पना कीजिए कि ये देश और जाति और धर्म की दूरियाँ, खाइयाँ, दीवारें मिट गयी हैं और इस खंड-खंड विभाजित दुनिया की जगह एक अखंड दुनिया ने ले ली है । कल्पना आखिर कल्पना है, बड़ी हवाई-सी लगती है, आज के संदर्भ में, लेकिन दो बातें यहाँ पर याद रखना ठीक होगा — एक तो यह कि आधुनिक विज्ञान और तकनीक ने इसके लिए भौतिक आधार उपस्थित कर दिया है और दूसरी यह कि अब इसको छोड़कर दूसरा विकल्प भी नहीं है, दुनिया या तो एक और अखंड होकर रहेगी या नेस्त-नाबूद हो जायेगी, ज्यादा नहीं अगले सौ-पचास वर्षों में ही, जो मानव जाति के करोड़ों वर्षों के इतिहास में समय की एक बूँद है । और अगर हम यह मान लें कि जिजीविषा ही जीवन का सबसे बड़ा सत्य है तो यह समझना चाहिए कि जैसे भी संभव होगा ऐसा ढंग निकलेगा ही कि दुनिया मैत्री और बंधुत्व के वातावरण में जी सके । तब फिर संवादहीनता क्यों होगी । संवादहीनता तनाव में से आती है, अपने भीतर का तनाव और अपने बाहर का तनाव । उन तनावों को दूर कर दीजिए, संवाद आप

से आप बह निकलेगा, वैसे ही जैसे बँधा हुआ पानी बह निकलता है, जैसे कि हम-आप अपने तमाम दोस्तों और मुलाकातियों से बात करते हैं और अक्सर खूब जी खोलकर भी बात करते हैं, बात नहीं करते तो बस उनसे जिनसे अपना मनमुटाव या अनबन है।

मनुष्य को भाषा किसी और ने नहीं दी है, उसने अपने लिए स्वयं उसका आविष्कार किया और इसीलिए आविष्कार किया कि वह बात करना चाहता था, वैसे ही जैसे प्राणिमात्र अपनी-अपनी भाषा में बात करते हैं। उनके यहाँ संवादहीनता को लेकर बहस नहीं खड़ी होती, हमारे यहाँ होती है, क्योंकि हम आदमी हैं! लेकिन हम अपनी बुद्धि से अपनी दुनिया को जटिल बना सकते हैं, अपने सहज मानवी संवाद के रास्ते में बाधाएँ खड़ी कर ले सकते हैं तो उन बाधाओं को दूर भी कर सकते हैं, अपनी दुनिया को फिर उसका सहज जीवन-आधार भी दे सकते हैं। यह विकल्प की स्थिति उसका अभिशाप भी है और वरदान भी। अपने विकल्पों के साथ और उनके बीच वह अपने जीने का रास्ता बनाता आया है, इसीलिए आदमी सृष्टि का राजा है।

दो समसामयिक प्रश्न

उर्दू : क्षेत्रीय भाषा की माँग

अभी कुछ महीने पहले मेरे पुराने साथी और दोस्त, मशहूर उर्दू कवि अली सरदार जाफ़री और आनंद नारायण मुल्ला साहब ने प्रधान मंत्री इंदिरा गांधी से मुलाक़ात करके उन्हें उर्दू कमेटी की तरफ से एक ख़त पेश किया था। उस ख़त में भारत सरकार की और व्यक्तिशः इंदिरा जी की सराहना की गयी है कि ग़ालिब शताब्दी इतनी धूमधाम से सारे देश में मनायी गयी, और फिर इस पर खेद प्रकट किया गया है कि उसी ग़ालिब की ज़बान उर्दू को खुद अपनी धरती पर जहाँ वह पैदा हुई और परवान चढ़ी, उसका उचित सम्मान नहीं मिल रहा है। इतना ही नहीं, उसे अपने न्यायोचित अधिकारों से भी वंचित किया जा रहा है।

उर्दू कमेटी में देश के अनेक बहुत ही जाने-माने साहित्यकार और विचारक हैं। उसके अध्यक्ष अंतरराष्ट्रीय ख्याति के कथाकार कृशनचंदर हैं जो हिन्दी में भी उतना ही छपते हैं जितना कि उर्दू में, और दोनों में समान रूप से लोकप्रिय हैं। हिन्दी के पाठक उनसे उतनी ही अच्छी तरह परिचित हैं जितना किसी बड़े-से-बड़े हिन्दी कथाकार से और बहुतों को तो शायद यह पता भी न हो कि वह मूलतः उर्दू के लेखक हैं। अभी हाल में देश के अनेक सांस्कृतिक केन्द्रों में उनका अभूतपूर्व सम्मान किया गया था जिसके वह सब तरह से अधिकारी हैं।

कमेटी के उपाध्यक्षों में अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिसंपन्न कथाकार डाक्टर मुल्कराज आनंद और राजेन्द्रसिंह बेदी हैं जिनके नाम खुद अपना परिचय हैं।

इसी तरह उसकी कार्यकारिणी में भी उर्दू के अनेक प्रसिद्ध कवि और गद्यकार हैं जिनमें ख्वाजा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफ़री, क़ुरअतुलऐन हैदर और अख्तरउल ईमान प्रमुख हैं।

उपरोक्त बंधुओं में दो-एक को छोड़कर शेष सभी को पास से जानने और उनके साथ काम करने का मेरा सौभाग्य रहा है और मैं सच्चे दिल से उनकी इज़्ज़त करता हूँ।

और बहुत अदब के साथ, उनके पत्र में उल्लिखित इस माँग का विरोध करना चाहता हूँ कि 'दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश,

राजस्थान और मध्य प्रदेश में उर्दू को हिन्दी के बाद दूसरी क्षेत्रीय भाषा के रूप में सरकारी मान्यता दी जाय और उसे क़ानूनन् लागू किया जाय।'

जैसा कि हिन्दी पढ़नेवाले आमतौर पर मेरे बारे में जानते हैं, मैं खुद उर्दू का प्रेमी और समर्थक हूँ। मेरा विश्वास है कि अच्छी, जीवंत हिन्दी लिखने के लिए उर्दू का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि यही मिलीजुली ज़बान उत्तर भारत की साधारण बोलचाल और दैनिक कामकाज की अकेली नागर भाषा है और भावों को प्रकाशित करनेवाले साहित्य, सर्जनात्मक साहित्य की, मैं समझता हूँ, सबसे बड़ी सिद्धि यही है कि वह बोलचाल के निकट से निकट पहुँच जाय क्योंकि भाषा के पर्दों को अधिक से अधिक काटकर ही भावों की प्रतीति उनके सहज निर्वसन रूप में की और करायी जा सकती है। समर्थ लेखक का कुल प्रयत्न इसी दिशा में होता है। वह भाषा का इस्तेमाल अपने भावों को ढँकने के लिए नहीं, नंगा करने के लिए करता है। ज़ाहिर है कि यह काम बोलचाल की ज़बान में और बोलचाल की ज़बान के क़रीब रहकर ही किया जा सकता है, औपचारिक भाषा में नहीं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि समसामयिक जीवन पर आधारित कहानी-उपन्यास-नाटक की भाषा अधिकांशतः यही मिलीजुली भाषा है — और अब तो नयी और नयी से नयी कविता की भाषा भी यही बोलचाल की मिलीजुली भाषा है, जो छायावादी कविता की भाषा से बिलकुल अलग है। भाषा का ठीक ज्ञान न होने के कारण कभी-कभी शब्दों और मुहावरों के ग़लत प्रयोग भी हो जाते हैं लेकिन मेरे नज़दीक वह एक छोटी बात है जिसका इलाज भी कुछ उतना मुशकिल नहीं। बड़ी बात यह है कि लेखक उस मिलीजुली भाषा को पाना और अपनाना चाह रहा है जिसका उर्दू एक सहज अंग है। सरकारी हिन्दी बनानेवाले भले कितना ही उर्दू से परहेज़ करें और उसके पीछे हिन्दी की मिट्टी ख़राब करें, साधारण जनता में और सर्जनात्मक स्तर पर हिन्दी का निर्माण करनेवाले साहित्यकारों के बीच कहीं उर्दू के प्रति द्वेष का भाव नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि सब लिखनेवालों का भाषा-स्तर एक है। न है और न होने की ज़रूरत है। अपने-अपने भाषा-संस्कार के अनुरूप (जो लेखक की अपनी शिक्षा-दीक्षा से बनता है) कोई अधिक संस्कृतनिष्ठ तत्सम भाषा लिखता है, और किसी की भाषा में बोलचाल का, जिसमें उर्दू भी मिली होती है, ज्यादा रंग रहता है — असल चीज़ कथ्य का आग्रह है। उसी कथ्य के आग्रह से एक ही व्यक्ति कभी एक तरह की और कभी दूसरी तरह की भाषा लिखता है। सर्जनात्मक लेखन और चिन्तनात्मक लेखन में भाषा का यह स्तर-भेद तो बहुत आमतौर पर दिखायी पड़ता है — जो ज़रा ज्यादा ही बड़ा अंतर

है, जितना कि न होना चाहिए। शिक्षा और संस्कृति के फैलने और गहरे उतरने के साथ-साथ निश्चय ही यह अंतर कम भी हो जायेगा। लेकिन इन तमाम सूरतों में देखने की चीज़ एक ही होती है कि लेखक जैसी भी भाषा लिख रहा हो, सबसे पहले अपने प्रति सहज-मुक्त होकर लिखे, बनावटी भाषा न लिखे, और किसी भी तरह की भाषागत संकीर्णता या द्वेष या दुराग्रह को अपने पास न फटकने दे। मैं समझता हूँ, हिन्दी के कृती साहित्यकारों में ऐसों की ही संख्या बड़ी है और बहुत बड़ी है जो उर्दू-विद्वेष से पीड़ित नहीं हैं। सरकारी हिन्दी के स्वनामधन्य निर्माताओं की बात और है लेकिन खुशी की बात है कि जीती-जागती हिन्दी पर, जिससे साहित्य रचा जाता है, उनका बहुत असर नहीं है।

ख़ुद मेरी ज़बान के बारे में कृशनचंदर से ज्यादा बड़ी सनद, इस बहस के सिलसिले में, और किसकी हो सकती है ? मेरी एक किताब की भूमिका लिखते हुए १९५२ में उन्होंने कहा था, 'अमृतराय की कहानियों की ज़बान बड़ी रसीली और मीठी है ... यह जटिल, बनावटी, झूठे शिष्टाचार की पुरतकल्लुफ़ किताबी ज़बान नहीं है ... यू०पी० का घुला हुआ, रचा हुआ, रोज़मर्रा का मुहावरा उर्दू और हिन्दी दोनों की मिलीजुली पूँजी है। यही पूँजी अमृतराय की ज़बान है, यही कहानियों की ज़बान है ... ।'

यक़ीन कीजिए, कृशनचंदर का यह उद्धरण यहाँ पर देने का उद्देश्य आत्म-विज्ञापन नहीं, केवल यह दिखलाना है कि इन पंक्तियों का लेखक उर्दू-द्वेषी या उर्दू-द्रोही नहीं है, और अगर तब भी वह उर्दू को क्षेत्रीय भाषा की मान्यता देने की माँग का विरोध करता है तो सकारण ऐसा करता है, जिस पर ठंडे दिल से ग़ौर करने की ज़रूरत है, उर्दू-द्रोही कहकर उसे गोली मार देने से काम नहीं चलेगा।

उर्दू की सुरक्षा संबंधी इसी १९५२ की जिस अपील या आवेदन-पत्र का इस पत्र में हवाला दिया गया है उसके बीस लाख हस्ताक्षरों में एक हस्ताक्षर मेरा भी है। ज़ाहिर है कि मैंने उर्दू को 'दीनी' या 'इस्लामी' ज़बान समझकर उस अपील पर हस्ताक्षर नहीं किया, यह समझकर किया कि उर्दू हमारी इसी खड़ी बोली से निकली हुई एक ज़बान है और हमारे देश की और विशेष रूप से उत्तर भारत की मिली-जुली संस्कृति का सशक्त और सुन्दर माध्यम है जिसके दीनी और ग़ैर-दीनी, इस्लामी और ग़ैर-इस्लामी समान रूप से उत्तराधिकारी हैं और इसीलिए सबको मिलकर उसकी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि उससे हमारी भाषा और संस्कृति समृद्ध हुई है और उसको दबाने या मिटाने की कोशिश करना सबसे पहले हिन्दी को ही दरिद्र बनाना है और एक हज़ार बरस में पायी हुई

अपनी एक विशिष्ट पूँजी को अंधे सांप्रदायिक विद्वेष की आग में झोंक देना है। इसी विश्वास के साथ मैंने उस आवेदन-पत्र पर, जिसमें अगर मेरी याददाश्त धोखा नहीं देती तो तब तक उर्दू को क्षेत्रीय भाषा की मान्यता देने की कोई माँग नहीं थी, हस्ताक्षर किया था। इसीलिए मुझे धक्का लगा और गहरा धक्का लगा जब एकाधिक सूत्रों से मुझे यह पता चला कि उस अपील पर इतनी बड़ी संख्या में ये दस्तख़त दीनी ज़बान के नाम पर लिये गये — और धक्का ही नहीं लगा, भाषागत सांप्रदायिकता के दूसरे चेहरे की प्रत्यक्ष अभिज्ञता भी हुई। एक सांप्रदायिकता अगर वह है जो हिन्दी को हिन्दू का पर्यायवाची समझती है और उर्दू से इसलिए परहेज़ करती है कि उसका लगाव मुसलमानों से है तो दूसरी सांप्रदायिकता वह है जो उर्दू को इस्लामी ज़बान कहती है और हिन्दी से इसलिए परहेज़ करती है कि उसका लगाव हिन्दुओं से है। एक ही बात के ये दो चेहरे हैं — दोनों के पीछे काम करनेवाली ज़ेह-नियत एक ही है। मेरे नज़दीक जैसे एक घृणास्पद है वैसे ही दूसरी मकरूह। हिन्दी में कबीर और खुसरो और रहीम और रसखान और जायसी का जो उच्चतम स्थान है, जहाँ कोई उनकी बराबरी करनेवाला नहीं है, क्या कोई अंधे से अंधा मुस्लिम-विद्वेषी भी उससे इन्कार कर सकता है ? या कह सकता है कि हमारी आज की हिन्दी को बनाने में उनका कोई योग नहीं है ? और ये तो उस वक्त के लोग हैं जब कि इस देश में मुसलमानों की हुकूमत थी, फिर क्यों उन्होंने हिन्दी को अपनाया ? इसीलिए कि ज़बानों का कोई धर्म या संप्रदाय नहीं होता। उसी तरह उर्दू अदब में चकबस्त और सरशार और प्रेमचंद और फ़िराक़ और कृशनचंदर का जो बलंद मुक़ाम है, क्या कोई कट्टर से कट्टर हिन्दू-द्वेषी भी उससे इन्कार कर सकता है ? या कह सकता है कि आज की उर्दू को बनाने में उनका कोई योग नहीं है ? भाषाओं को धर्मों से जोड़ देना अत्यंत कुत्सित बात है और उससे बहुत भयानक नतीजे निकलते हैं।

कुछ इसी तरह का मेरा छोटा सा एक अनुभव और है, उन्हीं दिनों का जब उस उर्दू अपील पर दस्तख़त कराये जा रहे थे। अटाला इसी शहर की एक मुस्लिम बस्ती है। मुझे उर्दू के एक जल्से में तक़रीर करने के लिए बुलाया गया। मैं गया और मैंने अपने तईं पूरी ईमानदारी से, बग़ैर किसी लाग-लपेट के, उर्दू की ज़ोरदार हिमायत की। लेकिन अभी मैं बोल ही रहा था कि मुझे पीछे से एक आवाज़ सुनायी पड़ी, 'हिन्दू है।' मैं चौंक गया और मैंने मुड़कर देखा तो मुझे यह समझने में देर नहीं लगी कि यह वही सज्जन थे जो मुझे उस जल्से में तक़रीर करने के लिए बुलाने आये थे, यूनिवर्सिटी के उर्दू विभाग के

एक शोध-छात्र । पीछे जो सज्जन धन्यवाद देने के लिए खड़े हुए उन्होंने बहुत गर्मजोशी से मेरा शुक्रिया अदा किया, मगर मेरा मज़ा तो किरकिरा हो चुका था । मैं आज तक नहीं समझ पाया कि उस वक्त इस फ़िक़रे से उनका मतलब क्या था । या तो वह अपने किसी दोस्त की, जो उस प्लेटफार्म से कुछ दूसरी तरह की तक़रीरें सुनने का आदी था, परेशानी दूर करने के लिए उसे मेरा परिचय दे रहे थे या फिर मेरी तक़रीर से खुश होकर अपने ढंग से मेरी तारीफ़ कर रहे थे, हिन्दू है मगर देखो कितने खुलकर और किस जोश के साथ हमारी ज़बान के हक़ में बोल रहा है ! ... मैं सचमुच नहीं जानता उनका क्या मतलब था । मुमकिन है उनका कुछ तीसरा ही मतलब रहा हो, लेकिन वह जो भी हो, बात बहुत फूहड़ और बेमहल थी, नितांत अप्रासंगिक, जिसका और कोई मतलब रहा हो या न रहा हो इतना मतलब तो था ही कि उनकी दृष्टि में महत्व इसका नहीं था कि मैं क्या कह रहा था, इसका था कि मैं हिन्दू था ! हिन्दू शब्द कोई गाली नहीं है लेकिन उस वक्त वह मुझे गाली जैसा ही सुनायी पड़ा ।

यह कहा जा सकता है कि ये गुमराह लोग हैं जो सच्चे अर्थों में उर्दू के दुश्मन हैं, उसी तरह जैसे वह आदमी जो हिन्दी को हिन्दू का पर्यायवाची समझता है, सच्चे अर्थों में हिन्दी का दुश्मन है — क्योंकि वह एक ही साथ दो बातों को अनदेखा करता है, एक तो यह कि इसी देश में हिन्दुओं की और भी तेरह भाषाएँ और जाने कितनी बोलियाँ हैं और दूसरे यह कि इस हिन्दी को बनाने में अन्य धर्मावलंबियों, मुख्यतः मुसलमानों का कितना बड़ा योग रहा है । कोई भाषा किसी एक धर्मवाले की नहीं होती, वह उस ख़ित्ते में रहनेवाले और उसको बोलने-बरतनेवाले सब लोगों की होती है और समान रूप से सबकी होती है — यह ठीक है कि आज यह बात सुनने में थोड़ी अटपटी लगती है क्योंकि राजनीतिक वातावरण दूषित है और हिन्दी और उर्दू के बीच एक खाई है । लेकिन यह भी तो भूला नहीं जा सकता कि एक समय ऐसा भी था जब कि यह खाई नहीं थी । फिर एक समय आया कि विधिवत् उनके बीच खाई खोदी गयी और दोनों को दो समानान्तर पटरियों पर दौड़ा दिया गया — फ़ोर्ट विलियम कालेज के गिलक्रिस्ट साहब को इस सिलसिले में सदा याद किया जायेगा ! ... और फिर विरोधी राजनीतिक और सामाजिक तत्वों के प्रभाव में यह खाई बराबर चौड़ी होती गयी । आज दोनों दो अलग साहित्यिक भाषाओं के रूप में खड़ी हैं । इस सत्य को न तो अनदेखा किया जा सकता है न झुठलाया जा सकता है और न शायद पलटा जा सकता है । मैं यह मानने से इन्कार

करता हूँ कि उर्दू हिन्दी की एक शैली है, जैसा कि हिन्दी के कुछ प्रवक्ता बहस के दौरान कहा करते हैं, और मैं समझता हूँ वे भी जानते हैं कि यह बात झूठ है । और अगर सच है तो किसी को भी यह पूछने का हक़ है कि फिर सूर और तुलसी और मीरा और विद्यापति और पंत और निराला के साथ-साथ मीर और ग़ालिब और हाली और इक़बाल और जोश और फ़िराक़ को भी क्यों हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों में जगह नहीं दी जाती ? इसीलिए कि वह सिर्फ़ कहने के लिए कही गयी एक बात है, एक तरह की कठहुज्जती । हिन्दी और उर्दू के परस्पर संबंध के विषय में प्रामाणिक बात इतनी ही कही जा सकती है कि दोनों एक ही धरती की उपज हैं, एक ही बोली, खड़ीबोली, से निकली हैं, सगी बहनें हैं या कह लीजिए कि जुड़वाँ बहनें हैं । अगर यह नहीं कि उर्दू हिन्दी की शैली है — अगर हैं तो दोनों खड़ीबोली की दो शैलियाँ हैं ।

जो कि, सुनने में भले ही कुछ अटपटा लगे, स्थिति को आसान नहीं और भी पेचीदा बनानेवाली, उलझानेवाली एक बात है । क्योंकि जहाँ यह सच है कि दोनों का आधार वही खड़ीबोली है वहाँ यह भी उतना ही सच है कि उनका विकास अलग-अलग ढंग से हुआ है । एक समय तक साथ-साथ विकास करने के बाद दोनों ने अलग-अलग अपनी दिशाएँ पकड़ लीं । साधारण बोलचाल के स्तर पर, दैनिक कामकाज के स्तर पर, एक मिली-जुली बोली भी बराबर विकास करती रही, जो साधारण बोलचाल तक ही सीमित नहीं रही, साहित्य में भी पहुँची और बड़ी आन-बान के साथ पहुँची । उदाहरण के लिए भारतेन्दु-मंडल के ही (जहाँ से ही साधारणतः आधुनिक खड़ीबोली हिन्दी का जन्म माना जाता है) बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त का गद्य देखिए, वह इसी उर्दू-हिन्दी मिली-जुली भाषा का बहुत खूबसूरत और सजीला रूप है । लेकिन प्रतिनिधि रूप है, ऐसा कहना कठिन है । क्योंकि भारतेन्दु-युग के आने-आने तक उर्दू और हिन्दी अपनी अलग-अलग पटरियों पर दौड़ चुकी थीं और फिर जिन पृथक्तावादी राजनीतिक और सामाजिक तत्वों ने उन्हें अलगाया था उन्होंने एक का मुँह संस्कृत की तरफ़ और दूसरी का मुँह अरबी-फ़ारसी की तरफ़ करके इस बात की भी पक्की व्यवस्था कर दी थी कि दोनों अपने 'सहज' विकास के क्रम में ही एक दूसरे से अधिकाधिक अलग और अधिकाधिक दूर होती चली जायें । राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर यही फूटपरस्त और अलगावपंथी विदेशी और देशी तत्त्व अपना अलग काम करते रहे जिसने भाषाओं के इस अलगाव को और भी बढ़ावा दिया । लेकिन दोनों ज़बानों के ख़मीर में जो एका है वह भी, बदलती हुई राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में कभी कम और कभी

ज्यादा, बराबर अपना काम करता रहा । इस तरह इन दोनों सहोदर भाषाओं के विकास-क्रम में बराबर दो विरोधी प्रवृत्तियाँ काम करती दिखायी पड़ती हैं — एक जो दोनों के ऐक्य पर बल देती है और दूसरी जो उनकी पृथक्ता पर बल देती है; एक जो अपनी भाषा के उन तत्त्वों को उभारती है जो उसे दूसरी के क़रीब ले जाते हैं और दूसरी उनको जो दोनों की दूरी को बढ़ाते हैं ।

मीर की ज़बान उर्दू शायरी की ऐसी ज़बान है जो फिर किसी को नसीब न हुई । समकालीनों और बाद में आनेवालों, सबने उस पर हैरत की लेकिन कोई उसे अपने यहाँ उतार नहीं सका । उसकी तमाम खूबसूरती और सजीलापन इस बात में है कि वह उर्दू-हिन्दी का एक बेइंतहा ख़ूबसूरत मिला-जुला रूप है । 'सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो, अभी टुक रोते-रोते सो गया है ।' या 'दिल वो नगर नहीं कि फिर आबाद हो सके, पछताओगे सुनो हो ये बस्ती उजाड़ के ।' या 'शाम से कुछ बुझा-बुझा सा रहता है, दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिस का ।' जैसी सादा और मीठी और पुरअसर ज़बान, जिसकी सरहदें श्रेष्ठ गद्य की भाषा से जा मिलती हैं, मीर ही का हिस्सा थी । उन्हीं मीर का एक यह क़िस्सा भी मशहूर है कि लखनऊ के कोई शायर, जिनकी ज़बान में फ़ारसी का रंग ज़रा ज़्यादा था, अपना कलाम मीर को सुनाने पहुँचे । मीर ने बहुत शौक़ से उसको सुना और सुनकर सिर्फ़ इतना कहा, 'मियाँ, आपने उर्दू में भी कुछ कहा है ?'

ग़रज़ कि ज़बानों की घुलावट का एक ऐसा भी वक्त था, मगर फिर वह नहीं रहा । उर्दू से हिन्दी शब्द और हिन्दी-गंधी शब्द मतरूक किये जाने लगे, छोड़े जाने लगे । कहनेवाले कहते हैं (और इस चीज़ को लेकर इन पंक्तियों के लेखक की एक बार फ़िराक़ गोरखपुरी से अख़बारों में बहस भी हुई थी) कि मतरूक का आंदोलन हिन्दी शब्दों के विरोध में नहीं ऐसे प्रयोगों के विरोध में था जो धीरे-धीरे अप्रचलित हो गये थे । लेकिन यह शायद पूरी सच्चाई नहीं है । जहाँ तक मैंने देखा और जाना है, 'कभू' और 'टुक' जैसे शब्दों के साथ-साथ बहुत से हिन्दी शब्द भी छाँट दिये गये जो उस वक्त कविता की भाषा में मिलते थे और बाद को मिलना बंद हो गये ।

लेकिन जिस तरह उर्दू और हिन्दी अलग-अलग पटरियों पर दौड़ने लगी थीं, या उन्हें दौड़ा दिया गया था, और जिस तरह राजनीतिक और सामाजिक जीवन में फूट और अलगाव की ताक़तें काम कर रही थीं (और सामाजिक जीवन ही वह धरती है जहाँ से भाषा अपना आहार पाती है) यह बात अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती, और न किसी एक पर उसका दोषारोपण किया जा सकता

है । दोनों ओर यही प्रवृत्ति काम कर रही थी — और उर्दू के हक़ में यह कहना होगा कि उसने हिन्दी-उर्दू के सम्मिलित उत्तराधिकार की रक्षा अधिक सामाजिक जागरूकता और ज्यादा सच्चे भाषा-प्रेम से की है । सरकारी हिन्दी, रघुवीरी हिन्दी बनानेवाले और कुछ शुद्धिवादी लेखक और अध्यापक जिस तरह अंधाधुंध उर्दू और उर्दूगंधी शब्दों का बहिष्कार करते हैं, वह तो भाषा को बिलकुल निर्जीव किये डाल रहा है और नतीजे में हमको एक ख़ासी फूहड़ और बेजान जबान मिल रही है ।

यहाँ पर मैं एक बात बिलकुल स्पष्ट कर दूँ कि मैं न तो हिन्दी में संस्कृत से आनेवाले तत्सम शब्दों के बहिष्कार की बात कह रहा हूँ और न उर्दू में फ़ारसी-अरबी से आनेवाले तत्सम शब्दों के बहिष्कार की । अपनी बात को ज्यादा अच्छी तरह से कहने के लिए आवश्यकतानुसार तत्सम शब्द भी आयेंगे ही, और उनको आना भी चाहिए । इतना ही नहीं, जब दोनों भाषाओं के दो अलग साहित्यिक रूप बन गये तब भाव भी बहुत बार वैसे ही शब्दों में ढलकर आते हैं । मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि इन दोनों साहित्यिक रूपों को इस तरह एक में मिलाया जा सकता है कि दोनों का अलग-अलग अस्तित्व मिट जाये । उस तरह की, कमरे में बैठकर बनायी गयी ताराचंदी हिन्दुस्तानी का न कोई भविष्य था और न है । मैं सिर्फ़ यह कह रहा हूँ कि जहाँ तक मुमकिन हो इन दोनों भाषाओं के बीच की दीवारों को तोड़ा जाय, खाई को पाटा जाय — इसलिए कि एक दूसरे के पास आने से दोनों ही भाषाएँ निखरती हैं, हिन्दी और उर्दू का साहित्य इसका प्रमाण है, और इसीलिए निखरती हैं कि दोनों एक ही बोली से निकली हैं और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सर्जनात्मक साहित्य की यह एक बड़ी उपलब्धि है कि वह बोलचाल के निकट से निकट पहुँच जाय । जिसका मतलब यह नहीं कि उसका स्तर रोज़ की घिसी-पिटी बातचीत का होगा । वह खड़ी बोलचाल की ज़मीन पर होगी और भाव को अभिव्यक्ति देने की प्रक्रिया में आपसे आप उठेगी — जैसे अपनी सीमा के भीतर अनपढ़ से अनपढ़ आदमी की भी भाषा उठती है । और साहित्यकार तो फिर विशेष समर्थ भाषा का धनी होता है । वह तो सारा जादू अपनी उसी भाषा से करता है, प्रचलित शब्दों को नये संदर्भों में प्रयोग करके उन्हें नयी अर्थवत्ता दे देता है, भाषा के साथ खेलकर मन के गूढ़ से गूढ़ भावों को काग़ज़ पर उतार देता है । लेकिन अच्छे और समर्थ लेखन की एक बड़ी पहचान यह है कि लेखक कृत्रिम या बोझिल भाषा नहीं लिखता, उसकी भाषा का स्तर भावों द्वारा निर्दिष्ट होता है । वही सहज भाषा है । और सहज भाषा वही है जो भावों के साथ-साथ कितनी ही गहराइयों

को सदा के लिए और संवैधानिक रूप से अलग-अलग पटरियों पर दौड़ा देने की बात कम-से-कम इन पंक्तियों के लेखक को समाज-विधायक या समाज की दृष्टि से प्रगतिशील बात नहीं लगती। साहित्यिक भाषाओं के रूप में उनके पृथक् अस्तित्व की बात और है; लेकिन सम्मिलित जीवन के स्तर पर, वह जो साथ उठने-बैठने, खाने-कमाने, नौकरी और प्रशासन का स्तर है उस पर एक सम्मिलित भाषा होनी ही पड़ेगी अन्यथा वह सम्मिलित जीवन बहुत दिन बना नहीं रह सकता। उर्दू को क्षेत्रीय भाषा की मान्यता देने की माँग उस दृष्टि से घातक होगी और दोनों भाषाओं पर अंतिम रूप से उनके अलगाव का क़ानूनी ठप्पा लगा देगी। इसीलिए प्रस्तुत लेखक, जहाँ वह उर्दू भाषा और साहित्य की अधिक-से-अधिक उन्नति की अन्य किसी भी योजना के साथ है वहाँ वह इस एक माँग का विरोध करना और सख्ती से विरोध करना ज़रूरी समझता है। इसके जवाब में अगर कोई यह कहे कि आपने जब उर्दू को यह दर्जा ही नहीं दिया तो कुछ नहीं दिया, उसके बिना तो ज़बान ज़िन्दा ही नहीं रह सकती — तो उसके जवाब में बड़े अदब के साथ मैं अपने उस दोस्त से यही अर्ज़ करूँगा कि नहीं, आपका यह ख़याल ठीक नहीं है, ऐसा कोई ख़तरा नहीं है, देखिए न हिन्दी तो कभी राजभाषा नहीं रही (आज भी कहाँ है और कितनी है ?) लेकिन उसका साहित्य तो नहीं मरा, ज़बान तो नहीं मरी। उसके स्वर्णयुग को देखिए जबकि उसने कबीर और नानक, सूर और तुलसी, मीरा और विद्यापति जैसे कवियों को पैदा किया, उस समय तो दिल्ली का शासन फ़ारसी और उर्दू में होता था।

मैं यह भी समझ रहा हूँ कि यह माँग आज क्यों उठ रही है। एक तो इसलिए कि आज़ादी के इन बाईस वर्षों में, राजकीय और प्रशासनिक क्षेत्रों में हिन्दी के नाम पर एक ऐसी बनावटी और बोझिल भाषा का आविष्कार करके उसे चलाने की कोशिश की गयी और की जा रही है जिसे ग़रीब उर्दूवाला तो क्या समझेगा, हिन्दीवाले भी नहीं समझते। इसका असंतोष, इसके विरुद्ध क्षोभ उर्दू-वालों के मन में हो तो बिलकुल उचित है और उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। लेकिन मुझे आश्चर्य यह देखकर होता है कि इतने वर्षों में उस असंतोष और क्षोभ को इस रूप में वाणी नहीं मिली कि राजकाज, जिससे कहीं भी रहनेवाले हर आदमी को काम पड़ता है, उन्हें एक ऐसी भाषा में मिले जो सबकी समझ में आती हो, विशेषतया जबकि हम एक लोकतांत्रिक राज में हैं जिसमें जनता का अधिकाधिक सहयोग या पार्टीसिपेशन एक ज़रूरी चीज़ होती है या होनी चाहिए। उनकी ओर से अगर यह माँग उठे तो वह बिलकुल

न्यायोचित माँग होगी, उनके नागरिक अधिकार की माँग होगी। मगर हैरत है कि यह माँग कभी उर्दू हल्क़ों में नहीं उठायी गयी। सब चुप बैठे रहे। कहीं इसलिए तो नहीं कि उनके नेताओं ने सोचा हो, अच्छा है, मरने दो इन हिन्दी-वालों को अपनी रघुबीरी हिन्दी के साथ, हमारी इलाक़ाई ज़बान की माँग को इससे मदद मिलती है। ... और फिर आज के संदर्भ में जबकि चारों ओर बिख-राव की शक्तियाँ ज़ोर-शोर से काम कर रही हैं उर्दूभाषी जनता के सर्वथा उचित असंतोष को हल्का-सा मोड़ देकर उर्दू को हिन्दी के समानान्तर पृथक् राजकीय भाषा की मान्यता देने की माँग उठायी जाने लगी हो ...

मैं समझ रहा हूँ कि आज जिस भयानक तेज़ी से बिखराव की ताक़तें सारे देश में काम कर रही हैं— जाति को लेकर, धर्म को लेकर, भाषा को लेकर — और देश हमारी आँखों के सामने खंड-खंड होता चला जा रहा है, साधारण जनता के मन में एक नितांत असहाय उदासीनता ने डेरा जमा लिया है, कुछ भी करो कुछ होने-जाने का नहीं, सब बेकार है, जो होना है होकर रहेगा, इस देश को अब कोई बर्बादी से बचा नहीं सकता; सब तरफ़ नज़र दौड़ाकर देख लो, कहीं कोई आशा की किरन नहीं है, आदमी खुद जी ले, जैसे-तैसे, यही बहुत है! ... ऐसी घनघोर निराशा और निपट वैराग्य के वातावरण में राष्ट्र के स्वास्थ्य की बात सोचना भी किसी को हास्यास्पद लग सकता है।

मैं यह भी समझ रहा हूँ कि भाषा देश की एकता का एक सूत्र है, अकेला सूत्र नहीं है। देश को अगर एक होना है और संघटित होना है तो वह अनेक स्तरों पर अनेक विधायक तत्त्वों के योग से ही संभव है, और अगर उन सब स्तरों पर विघटनकारी तत्त्व ही काम कर रहे हों, जैसी कि आज स्थिति है, तो अकेली भाषा उसे विघटित-खंडित होने से बचा भी नहीं सकती।

ताहम जिन लोगों का दिल-दिमाग़ अपनी जगह पर सही है, उनसे अपेक्षा यही होती है कि वे स्वस्थ और सबल और एकताबद्ध देश के अपने स्वप्न के प्रति अंत तक सच्चे रहेंगे और अपने सामर्थ्य भर क्रियाशील रहेंगे, परिणाम जो भी निकले या न निकले, वह तो भविष्य के गर्भ में है।

मेरा विश्वास है कि परिणाम निकलेगा, और ठीक परिणाम निकलेगा, अगर अपना रास्ता साफ़ दिखायी पड़ रहा हो और बहुत से लोग, जिनकी आवाज़ में ताक़त है, मिल-जुलकर उसी दिशा में काम करें। काम यक़ीनन आसान नहीं है, कोई स्थायी और रचनात्मक काम आसान नहीं होता, लेकिन किया जाये तो फलदायक होगा, इसमें संदेह नहीं।

और तब मुझे अपने दोस्त अली सरदार जाफ़री की बाईस बरस पुरानी

में उतरे, कितनी ही ऊँचाइयों पर चढ़े, कितने ही गुल-बूटे तराशे, बोलचाल की ज़मीन को नहीं छोड़ती। और बोलचाल की ज़मीन हिन्दी और उर्दू दोनों की एक ही है।

इसी आधार पर शायद यह भी कहा जा सकता है कि असंभव नहीं था कि कुछ दूसरी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों में इस हिन्दी देश के पास, जिस तरह नागर बोलचाल की एक भाषा का विकास हुआ, उसी तरह अपनी एक साहित्यिक भाषा का भी विकास हुआ होता — जैसे बंगाल के पास अपनी बँगला है जिसे न तो धर्म खंडित कर सका और न देश का बँटवारा। लेकिन अब तो यह सिर्फ़ एक ख़याली पुलाव है जिसे आज की इस बहस से कुछ लेना-देना नहीं है। इस समय अपने इस भूखंड में हमारे पास दो साहित्यिक भाषाएँ हैं, अगर फ़िलहाल हम उन बोलियों को छोड़ भी दें जिनमें साहित्य लिखा जा रहा है और छप रहा है और जो विधिवत् भाषा की मान्यता पाने के लिए आंदोलन कर रही हैं; मैथिल को तो साहित्य अकादेमी की ओर से मान्यता भी मिल चुकी है। लेकिन इस बहस में अगर उनका ज़िक्र न करें और केवल हिन्दी-उर्दू की बात करें तो इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि ऐसी स्थिति में यही श्रेयस्कर और काम्य होगा कि हिन्दी के समान ही उर्दू भाषा और साहित्य को भी अपनी समुचित उन्नति और विकास का अधिक से अधिक अवसर मिले। जिसका मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक उर्दू शिक्षा की ठीक व्यवस्था हो, उसमें किसी तरह की गड़बड़ी या अड़ंगेबाज़ी न हो, उर्दू साहित्य की प्रगति के लिए हर संभव प्रकार से उद्योग किया जाय और उसके लिए जहाँ सरकार की सहायता अपेक्षित हो वहाँ मुक्तहस्त होकर यह सहायता उसको दी जाय — और और भी जो कुछ भाषा और साहित्य के विकास के लिए किया जा सकता है, किया जाय।

लेकिन उर्दू के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी, यह कहना जरूरी है कि उपरोक्त चेष्टाएँ उर्दू को हिन्दी से नितान्त पृथक् और उसकी प्रतियोगी और संभवतः प्रतिलोम (उर्दू को दीनी या इस्लामी भाषा कहने का और क्या उद्देश्य हो सकता है?) भाषा मानकर भी की जा सकती हैं और उसकी सहजात-सहचरी भाषा मानकर भी की जा सकती हैं। पहले में फूट और अलगाव के तमाम ख़तरे भरे पड़े हैं : उर्दू सूबे की माँग भी किन्हीं हल्क़ों में उठने लगी है जिसकी जड़ें, पिछले दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास को देखते हुए, भीतर ही भीतर देश के एक नये सांप्रदायिक विभाजन तक भी पहुँच सकती हैं। दूसरा ही रास्ता दोनों ज़बानों की और देश की भलाई का रास्ता समझ में आता है।

इसलिए और भी कि उसके साथ इस हिन्दी देश की अपनी एक दैनिक कामकाज की और राजकाज की भाषा का सवाल भी जुड़ा हुआ है। यह भाषा किसी भी प्रदेश में एक ही हो सकती है, या होनी चाहिए, जब कि प्रदेशों का निर्माण ही भाषा के आधार पर किया गया है — अल्पमतों की सुविधा के लिए अतिरिक्त जो भी आयोजन किया जाय, उसकी बात दूसरी है, पर अधिकारी भाषा एक ही हो सकती है। दो भाषाओं को समानान्तर स्थान देना—और वे दोनों हिन्दी और उर्दू जैसी सहजात भाषाएँ जिनके बीच लिपिभेद ही सबसे बड़ा भेद है जो दोनों के निकटतर आने में शायद सबसे बड़ी बाधा है (और यह भेद मिटने पर दोनों के बीच कैसा योग स्थापित होता है, इसका तो प्रत्यक्ष और अद्भुत प्रमाण मिला तब जब मीर और ग़ालिब से लेकर साहिर और सरदार जाफ़री और मजरूह तक दर्जनों उर्दू कवियों के संग्रह नागरी अक्षरों में छपने पर हाथों-हाथ बिके और उनके कई-कई संस्करण हुए जब कि हिन्दी कवियों की वैसी ही प्रकाशन-योजना प्रकाशक को कुछ ही कवियों के बाद वन्द कर देनी पड़ी)—दोनों को सदा के लिए उनकी अलग-अलग कोठरियों में बन्द कर देने जैसी बात होगी, और इस हिन्दी देश के पास अपनी एक भाषा हो, इस संभावना को सदा के लिए मिटा देगी, क्योंकि इससे दोनों भाषाओं के परस्पर निकट आने की सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया पर रोक लग जायेगी और उनकी पृथक् स्थिति का तर्क उन्हें एक दूसरे से दूर और दूरतर करता जायेगा; न हिन्दीभाषी बहुमत के लिए ऐसी कोई बाध्यता रहेगी कि वह अपनी बात ऐसी भाषा में कहे कि उर्दूभाषी अल्पमत को भी अपने साथ लेकर चल सके और न उर्दूभाषी अल्पमत के लिए कोई बाध्यता रहेगी कि वह हिन्दी सीखे। बहस के लिए कोई इसे प्रस्तुत लेखक का काल्पनिक भय भी कह सकता है। उसका मेरे पास कोई जवाब नहीं है; समय ही उसका जवाब दे सकता है। लेकिन मेरे मन में रत्ती भर शंका नहीं है कि स्थिति की भी अपनी एक बाध्यता होती है जो व्यक्तियों और उनकी सदिच्छाओं से अधिक बलवती होती है। उर्दू को क्षेत्रीय भाषा या इलाक़ाई ज़बान की मान्यता देना निर्विवाद रूप से दोनों ओर की अलगाव और फूट की प्रवृत्तियों को ताक़त पहुँचायेगा — जो कि बड़ी ही विनाशकारी बात होगी, विशेषतः इसलिए कि देश के बढ़ते हुए नागरीकरण (अर्बनाइज़ेशन), बढ़ती हुई शिक्षा और बढ़ते हुए यातायात के साधनों के सन्दर्भ में दोनों भाषाओं के पास आने की संभावनाएँ और भी बढ़ गयी हैं। हिन्दी फ़िल्में इस दिशा में बड़ा काम कर रही हैं और कुछ थोड़े से लोग चाहें या न चाहें दोनों पास आ भी रही हैं। इस बड़ी उपलब्धि को परे फेंककर पुनः दोनों भाषाओं

बड़ी अच्छी भाषा है।' कि जैसे मुझे अभी यह जानना बाक़ी हो! मगर, जैसा कि मैंने ऊपर दिखाने की कोशिश की है, यह सवाल इससे ज्यादा गहराई में जाकर सोच-विचार करने का है। जो हो, उस वक्तव्य को खींचतानकर यह मतलब निकालना उसके साथ अन्याय करना है, और संभव है ये बंधु ख़ुद भी इसके बारे में कुछ कहें।

इस बात की सफ़ाई के ख़याल से मैंने इन चारों बंधुओं को पत्र लिखे थे। उनमें से तीन के उत्तर मुझे मिले; भगवती बाबू शायद अपनी किसी मजबूरी की वजह से जवाब नहीं दे सके। शेष तीनों पत्रों के आवश्यक अंश मैं नीचे उद्धृत कर रहा हूँ।

बंधुवर अमृतलाल नागर ने लिखा — '... उर्दू कमेटी बंबई का वह हैंड-आउट जो भारत की प्रधान मंत्री से लेकर तुम तक पहुँचा, वह न भगवती बाबू और यशपाल जी को ही मिला है और न मुझे। मेरा अनुमान है कि पंत जी को भी उससे महरूम ही रखा गया होगा। ... अपनी तरफ़ से स्पष्टीकरण करते हुए मैं यही कह सकता हूँ कि स्वतंत्र क्षेत्रीय भाषा के रूप में उर्दू का अस्तित्व न यशपाल ने ही स्वीकार किया था और न भगवतीचरण वर्मा ने। मेरे बारे में जानते ही हो, उर्दू से पूरी हमदर्दी होते हुए भी उसका यह अन-धिकार मैं कभी नहीं मान पाया। श्री सतीश बत्रा के यहाँ लंच में जो लोग मौजूद थे उन्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं कि उर्दूवालों की इस माँग पर बात लगभग टूट ही गयी थी। फिर फ़िराक़ साहब along शब्द लेकर आगे बढ़े। हम तीनों ने उस समय भी यह माना था और आज भी सकारते हैं कि हम अपनी भाषा की एक साहित्यिक शैली होने के नाते उर्दू का आदर करते हैं और इस रूप में हिन्दी के साथ-साथ अपने भाषाक्षेत्र में उसे अपना विकास पाने की अधिकारिणी भी मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि जो विद्यार्थी हमारी उर्दू शैली के साहित्य और फ़ारसी लिपि में प्रशिक्षित होना चाहें उन्हें सरकार से पूरी सुविधा मिले। उसका स्वतंत्र इलाक़ाई ज़बान होने का दावा हमने न तब माना और न अब मानते हैं। इसीलिए हमारे साथ एकमत होकर फ़िराक़ साहब, बन्नेभाई, कृशनचंदर, अब्बास, मख़दूम मोहिउद्दीन, साहिर आदि ने उक्त समझौते में यह स्वीकारा था कि हमारी प्रादेशिक सरकारी भाषा और लिपि केवल हिन्दी-देवनागरी ही होगी, उर्दू दूसरी राजभाषा का दर्जा नहीं पायेगी। बात इतनी स्पष्ट है कि उसमें भ्रम की गुंजाइश ही नहीं, फिर भी भाई लोग जहाँ सुई न समाय वहाँ फावड़े चला रहे हैं, क्या कहूँ ...'

यशपाल जी ने लिखा —

'...उर्दू कमेटी ने हम तीनों में से किसी के नाम अपनी विज्ञप्ति नहीं भेजी। यदि हम लोग इस माँग के समर्थकों में से हैं तो इसके लिए प्रयत्न से हमें क्यों अनजान रखा जा रहा है ? ...

'अगस्त १९६७ में यहाँ शामे अदब के सिलसिले में जो कार्यक्रम हुआ था उसकी रिसेप्शन कमेटी का चेयरमैन मैं ही था। उस अवसर पर सूचना केन्द्र में विचार-विनिमय के लिए बहुत बड़ी गोष्ठी हुई थी। उसमें मैंने अपने विचार एक लेख के रूप में पढ़े थे। शायद साइक्लोस्टाइल प्रति आपको भी भेजी गयी थी। मेरे प्रबन्ध का दृष्टिकोण था — हिन्दी-उर्दू एक भाषा हैं। यह दोनों शैलियाँ एक दूसरी के बिना अधूरी हैं। भाषण-लेखन में दोनों शैलियों के शब्दों-मुहावरों का यथा अवसर निर्बाध प्रयोग होना चाहिए। शिक्षा और शासन की भाषा में भी। उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, मध्य भारत, राजस्थान में यही नागरिक भाषा राजभाषा है जिसकी लिपि हिन्दी देवनागरी है। उर्दू शैली के प्रयोग और विकास को हिन्दी शैली के समान ही अवसर और प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इन भाषाओं को अलग समझना घातक दृष्टिकोण है। सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रयोजन से उर्दू-फ़ारसी लिपि पर भी कोई प्रतिबन्ध अनुचित है। उसके उपयोग का पूर्ण अवसर होना चाहिए। परन्तु शासन और शिक्षा के माध्यम के रूप में इन प्रदेशों की एक ही भाषा यही हिन्दी-उर्दू और लिपि देवनागरी है। श्री अब्बास ने उपस्थित उर्दू लेखकों की ओर से (यशपाल जी द्वारा रेखांकित — अ.) कहा था — मैं यशपालजी के मसविदे के लफ़्ज़-लफ़्ज़ का इस्तक़बाल करता हूँ और हम सब उसे मंज़ूर करते हैं। अगर सेन्टर और स्टेट की सरकारें और इन सरकारों के आला और अदना अफ़सर यशपाल जी के नज़रिये को मानें तो मैं उर्दू के लेखकों-शायरों की तरफ़ से यक़ीन दिलाता हूँ कि उर्दू को अलग से रीजनल या स्टेट लैंग्वेज मंज़ूर करने का सवाल नहीं उठाया जायेगा।

'बंबई उर्दू कमेटी द्वारा प्रधान मंत्री को भेजे गये मेमोरैंडम में बहुत डिस्टॉर्शन है। सब लोगों द्वारा स्वीकृत स्टेटमेंट में शब्द यों थे : Hindi along with Urdu in Hindi Script is the one and only regional and State language of Uttar Pradesh ... right to use Urdu language and script for literary and cultural purposes ... अंत में यह भी था : but the State language is only one, Hindi-Urdu in Hindi Script.

'साहिर लुधियानवी, कृशनचंदर मेरे साथ उर्दू मुहाफ़िज़ दस्ता (उर्दू को रीजनल सेकंड स्टेट लैंग्वेज स्वीकार कराने के लिए काउंसिल हाउस के सामने

एक बात का ख़याल आता है जब कि उन्होंने उर्दू साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों की ओर से एक सचमुच बहुत बड़े तामीरी क़दम का एलान किया था। बात इसी इलाहाबाद में, अग्रवाल कालेज के भवन में, सितंबर १९४७ में आयोजित हिन्दी प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की है, जिसकी अध्यक्षता पंडित अमरनाथ झा ने की थी और जिसमें यशपाल, राहुल, आनंद कौसल्यायन और दूसरे बहुत से जाने-माने लेखक उपस्थित थे। इसी सम्मेलन के एक खुले अधिवेशन में सरदार जाफ़री ने हिन्दी-उर्दू की समस्या पर बोलते हुए कहा था कि वह बंबई से अपने साथ उर्दू के जाने-माने लेखकों और बुद्धिजीवियों का एक ख़त लेकर आये हैं (जो कि उन्होंने बताया उस वक्त भी उनकी जेब में था) जिसमें कहा गया है कि अगर हिन्दी संसार उर्दू का नया-पुराना श्रेष्ठतम साहित्य, जिसका दर्जा क्लासिक का है, नागरी में ले आये तो उर्दू के लोग उर्दू लिपि का अपना आग्रह छोड़ने के लिए तैयार हैं।

बाईस बरस पुरानी बात हुई लेकिन मैं समझता हूँ कि मेरी स्मृति मुझे धोखा नहीं दे रही है और मैंने उन्हें ठीक-ठीक रिपोर्ट किया है। और जो लोग उस अधिवेशन में उपस्थित थे, और ऐसे कितने ही लोग मेरे जैसे अभी शेष हैं, उनको भी यह बात याद आये बिना नहीं रह सकती, क्योंकि बात इतनी बड़ी थी, सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक।

इधर कई वर्षों से मुझे अपने दोस्त सरदार जाफ़री से मिलने या इस प्रश्न पर बात करने का संयोग नहीं हुआ। इसलिए मैं यह नहीं कह सकता कि आज उनको अपनी उस बात के बारे में क्या कहना है। अगर उनकी आस्था डिग गयी है और अपनी ही पुरानी बात को अब वह ग़लत समझने लगे हैं, तब तो कुछ कहना ही नहीं है। लेकिन अगर वह आज भी अपनी बात पर क़ायम हैं तो एक तुच्छ हिन्दीसेवी के नाते मैं उनको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आज उसके लिए समय जितना अनुकूल है उतना पहले कभी नहीं रहा; उर्दू जगत् के समर्थन के साथ वह अपनी योजना लेकर आगे आयें, हिन्दी जगत् उनका विराट् स्वागत करेगा, और कुछ थोड़े से लोगों के विरोध के बावजूद उन्हें विशाल हिन्दी जनता का भरपूर सहयोग मिलेगा जिसके आगे कोई उर्दू-विरोधी टिक नहीं सकेगा।

शायद इसीलिए कि बंधुवर सरदार जाफ़री से मुझे हिन्दी और उर्दू को पास लानेवाले, उनके झगड़ों को मिटानेवाले ऐसे ही किसी बड़े रचनात्मक क़दम की उम्मीद थी, इतने वर्षों इस दिशा में निष्क्रिय रहने के बाद उनका प्रधान मंत्री से यह माँग लेकर मिलना कि हिन्दी-देश में उर्दू को हिन्दी के समानांतर दूसरी राजकीय भाषा का पद दिया जाय, एक झटका सा दे गया। संभव है

यह मेरी ही भूल हो, भ्रांति हो, मोह हो, मेरे भीतर कहीं पर छिपी बैठी हिन्दू सांप्रदायिकता हो, (और अगर इनमें से कोई चीज़ है जो मेरी दृष्टि को दूषित कर रही है तो मैं उससे मुक्ति पाना चाहूँगा और आशा है उर्दू के मेरे बन्धु इसमें मेरी सहायता करेंगे) लेकिन इस समय मेरे मन में रंचमात्र संदेह नहीं है कि उर्दू को दूसरी सरकारी ज़बान की जगह देने की माँग (कम-से-कम, आज की स्थितियों में) फूट को बढ़ानेवाली, पृथक्तावादी सांप्रदायिक माँग है जो सभी दृष्टियों से अनिष्टकारी है और जिसे संप्रदाय-निरपेक्ष उदारता के उत्साह-वश प्रश्रय देना भी उचित या वांछनीय नहीं। मेरा विश्वास है कि इससे दोनों ओर की सांप्रदायिकता को ही बल मिलता है और स्वस्थ राष्ट्रीय शक्तियों को भयंकर क्षति पहुँचती है। हिन्दी संसार कभी इसको स्वीकार नहीं कर सकता, जब कि इस एक माँग को छोड़कर उर्दू के हित की दूसरी सब माँगों के लिए हिन्दी लेखकों से लेकर हिन्दी पाठकों तक समस्त हिन्दी संसार तैयार है और थोड़ा सा उद्योग करने पर और भी अच्छी तरह तैयार किया जा सकता है। उर्दू कमेटी ने अपनी इस माँग के समर्थन में हिन्दी के चार बड़े लेखकों का नाम दिया है — यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर और सुमित्रा-नंदन पंत — लेकिन जहाँ तक मैं जानता हूँ इनमें से एक भी इस माँग का समर्थन नहीं करता। उचित था कि उर्दू कमेटी ने इनके हस्ताक्षरोंवालों उस वक्तव्य का अपने ढंग से भाष्य करने के बदले उसे ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके उनके नाम दिये होते तब यह बात साफ़ हो जाती कि ये लोग इलाक़ाई ज़बान की माँग का समर्थन करते हैं या नहीं करते। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि मुझे पता है लखनऊ में इन बंधुओं का वक्तव्य पर हस्ताक्षर करानेवाले मित्रों से मुख्यतः इसी माँग को लेकर काफ़ी विवाद खड़ा हो गया था, और इसलिए कह रहा हूँ कि ये बंधु जब-तब उर्दू-हिन्दी के प्रश्न को लेकर लिखते भी रहे हैं, जिसकी संगति किसी प्रकार उर्दू को इलाक़ाई ज़बान या दूसरी सर-कारी ज़बान बनाने की माँग से नहीं बैठती — और इसलिए कह रहा हूँ कि एहतेशाम हुसेन, सज्जाद ज़हीर, साहिर, मख़दूम आदि उर्दू के शीर्षस्थ साहित्य-कारों के साथ हमारी वह बैठक मेरे ही कमरे में हुई थी जिसमें सुमित्रानंदन पंत ने उक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये और मुझे कुल संदर्भों का पता है, यह भी कि मैंने क्या कहकर उस वक्तव्य का विरोध किया था (और फिर, पंत जी के कहने पर, अपने विरोध के बावजूद उस पर हस्ताक्षर कर दिया) और पंत जी ने क्या कहकर उस पर हस्ताक्षर किया था और मुझसे कर देने के लिए कहा था। अपने ख़ास भोले अंदाज में उन्होंने कहा था, 'कर दो न अमृत, उर्दू तो

(ख) उर्दू जो इस हिन्दी देश में रहनेवाले एक साधारण भाषाई अल्पमत की भाषा है।

(ग) उर्दू जो एक सांप्रदायिक-धार्मिक अल्पमत की भाषा है।

समस्या पर ठीक ढंग से विचार करने के लिए इसकी सफ़ाई अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मैं समझता हूँ बहुत-सी उलझनें इन तीनों को एक में गडमड कर देने और प्रश्न को इन तीनों स्तरों पर अलग-अलग करके न देखने या देख सकने से पैदा होती हैं।

इन पंक्तियों के लेखक की मान्यता है कि इनमें से किसी को भी आधार बनाकर उर्दू को हिन्दी प्रदेश की दूसरी सरकारी भाषा का स्थान देना सिद्धांतहीन और ग़लत बात होगी।

(क) जहाँ तक हिन्दी की सहजात-सहचरी भाषा होने के नाते उसकी यह माँग है, हम काफ़ी विस्तार से ऊपर विचार कर चुके हैं। संक्षेप में अब इतना ही, कि उर्दू यानी **अपनी लिपि-समेत** उर्दू का इस हिन्दी देश में कहीं कोई व्यापक क्षेत्र नहीं है जिसके आधार पर उसे यहाँ की क्षेत्रीय या दूसरी सरकारी भाषा का स्थान दिया जा सके — हाँ, हिन्दी के साथ अपने घुले-मिले रूप में, **बोली जानेवाली भाषा के रूप में** यह सारे का सारा हिन्दी क्षेत्र उसका भी उतना ही है, सोलहों आने उतना ही, जितना हिन्दी का। इस नाते उन्हें यह हक़ तो बख़ूबी पहुँचता है कि माँग करें कि इस हिन्दी देश का राजकाज उस भाषा में हो जो यहाँ की असल भाषा है और जिसमें उर्दू का अपना सहज अंश है। लेकिन यह हक़ उन्हें नहीं पहुँचता कि उर्दू, लिपि-समेत उर्दू, को हिन्दी के साथ-साथ दूसरी सरकारी भाषा का स्थान दिये जाने की माँग करें। ऐसा करने से उर्दू और हिन्दी के अलगाव पर हमेशा के लिए पक्की सील-मुहर लग जायेगी, यहाँ तक कि इस हिन्दी देश के पास कभी अपनी एक भाषा न हो सकेगी, जो कि बड़ी ही भयंकर बात होगी, और इसलिए न हो सकेगी कि दोनों की पृथक् स्थिति का तर्क उन्हें दूर से दूरतर करता जायेगा, जब कि आज, कुछ लोग चाहें या न चाहें, दोनों बराबर पास आती ही जा रही हैं। इसलिए मैं पूरे विश्वास के साथ समझता हूँ कि यह फूट और अलगाव की माँग है, प्रतिगामी माँग है जो समाज को आगे बढ़ाने के बदले पीछे ले जाती है।

यह बात ज़ोर देकर कहने की है कि उर्दू की इस माँग का विरोध करना उर्दू का विरोध करना नहीं है। उर्दू रहेगी, अपनी लिपि-समेत रहेगी, सांस्कृतिक भाषा के रूप में, विद्यालयों में नीचे से लेकर ऊपर तक पढ़ायी जानेवाली भाषा के रूप में। बल्कि यहाँ पर तो इन पंक्तियों के लेखक की मान्यता है कि दसवीं

कक्षा तक, हिन्दी प्रदेश के सब बच्चों को, वे किसी भी धर्म या संप्रदाय के हों, अनिवार्य रूप से उर्दू पढ़ायी जाय और खूब अच्छी तरह पढ़ायी जाय। इससे हिन्दी का तो भला होगा ही (हिन्दी और भी समृद्ध होगी, उसमें और भी ज़ोर और रवानी पैदा होगी) उर्दू का भी भला होगा (उसे बड़ा विस्तार मिलेगा, इस्लाम से बाँधकर उसे छोटा और संकीर्ण बनाने के बदले एक नये परिवेश और नयी जलवायु में मुक्त भाव से उसका पूर्णतर विकास किया जा सकेगा) और देश का भी बड़ा भला होगा। मेरे मन में कहीं कोई दुविधा इस संबंध में नहीं है, भले मुझे अपनी इस बात के तत्काल बहुत समर्थक न मिलें। लेकिन मेरा विश्वास है कि अगर उर्दू अपना पृथक्तावादी आग्रह छोड़कर हिन्दी से मिलने के लिए आगे बढ़े तो हिन्दी के लोग भी पीछे नहीं रहेंगे। हाँ, इसके लिए उर्दू और हिन्दी दोनों ही क्षेत्रों में काफ़ी काम करना पड़ेगा, पर वह स्वस्थ दिशा में किया गया काम होगा। और यही वह परिप्रेक्ष्य है जिसके अन्तर्गत उर्दू को दूसरी सरकारी भाषा बनाने की माँग का विरोध करना और बिला झिझक विरोध करना और सख्ती से विरोध करना मुझे ज़रूरी मालूम होता है। सरकारी भाषा इस हिन्दी देश की एक ही हो सकती है, नागरी लिपि में हिन्दी।

(ख) यहाँ पर रहनेवाले एक भाषाई अल्पमत की भाषा के नाते उर्दू की इस माँग को स्वीकार करने का और भी कम कारण है। एक तो इससे भाषावार प्रदेश निर्माण की बात ही झूठी और निरर्थक हो जाती है (और उस दृष्टि से यह माँग उतनी ही अस्वीकार्य है जितनी पंजाबी सूबे में हिन्दी को या महाराष्ट्र में गुजराती को या आंध्र में मराठी को दूसरी सरकारी भाषा का स्थान देने की माँग) और दूसरे, इससे इसी तरह की अन्य पृथक्तावादी भाषाई माँगों को बल मिलता है और ऐसी स्थिति आ सकती है जो इस हिन्दी प्रदेश को खंड-खंड विभाजित कर दे। कौन नहीं जानता कि मैथिली और राजस्थानी और भोजपुरी में इस आशय के भाषा-आंदोलन इस समय भी चल रहे हैं — और कल के रोज़ ब्रज और अवधी, बुंदेली और बघेली में भी चल सकते हैं (थोड़ी-थोड़ी सुगबुगाहट है भी) अगर समय रहते आगे बढ़कर सूझबूझ से इस चौतरफ़ा विघटन की प्रक्रिया को रोका नहीं जाता।

(ग) धार्मिक-सांप्रदायिक अल्पमत की भाषा मानकर उर्दू को यह मान्यता देना तो बिलकुल ही विनाशकारी होगा क्योंकि वह चीज़ इस अभागे देश में, अजीब टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में होकर, सीधे दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर पहुँचती है।

इस तरह किसी भी दृष्टि से विचार करने पर उर्दू को हिन्दी के समानान्तर दूसरी सरकारी भाषा का स्थान देना उचित या न्यायसंगत नहीं ठहरता।

अनशन किये लोगों) से बात करने गये थे। साहिर लुधियानवी और कृशनचंदर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था — उर्दू के मुनासिब हक़ के लिए लड़ने में हम आपके साथ हैं, लेकिन दूसरी स्टेट लैंग्वेज के तक़ाज़े को हम खुद मंज़ूर नहीं कर सकते। ...'

पंत जी ने लिखा — '... वास्तव में, उर्दू कमेटी की ओर से जो पत्रक तुम्हारे पास आया है उससे हमारे मत के बारे में एक भ्रामक धारणा ही पैदा हो सकती है। उर्दू को दूसरी राजभाषा के रूप में — उत्तर प्रदेश और बिहार में — स्वीकृति मिलनी चाहिए, ऐसा जहाँ तक मुझे स्मरण है उस वक्तव्य में कुछ नहीं था जिस पर हम लोगों के हस्ताक्षर लिये गये थे। न मेरा ऐसा मत ही रहा है कि उर्दू को अलग से दूसरी राजभाषा के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। हिन्दी जब भी राजभाषा या संपर्कभाषा बन सकेगी उसे देशी-विदेशी अनेक भाषाओं के शब्द ग्रहण करने पड़ेंगे और चूँकि हिन्दी और उर्दू, व्याकरण आदि अनेक दृष्टियों से, एक ही या समान-सी भाषाएँ हैं — और उर्दू के अनेक शब्द हिन्दी में हैं ही, और भी आगे लिये जा सकेंगे, इसलिए उसे मैं पृथक् रूप से दूसरी राजभाषा के रूप में लिये जाने की बात कभी नहीं सोचता रहा। उसकी आवश्यकता भी नहीं, बल्कि उससे अकारण अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं और भावनात्मक एकता — जिसे मैं विवेकात्मक एकता कहना अधिक उचित समझता हूँ — में भी ठेस पहुँच सकती है। हाँ, उर्दू के विकास के लिए भी आवश्यक सुविधाएँ मिलनी चाहिए — यही तब भी मेरा मत रहा है। ...'

इस पत्रों से इतना तो स्पष्ट ही है कि उर्दू कमेटी ने उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाने की माँग के संदर्भ में इन बंधुओं के नाम का उल्लेख करके उनके साथ अन्याय किया है। पत्रों से प्रकट है कि इस प्रश्न पर उनके मत में यहाँ-वहाँ शेड्स का जो भी अन्तर हो, मोटे रूप में सब एकमत हैं और इस बात पर तो बिलकुल ही एकमत हैं कि उर्दू को इन हिन्दी प्रदेशों में दूसरी राजभाषा का पद देना बहुत घातक होगा। सोचने की बात है कि क्यों इस सवाल पर ये सभी लोग, जिन पर सांप्रदायिक संकीर्णता का दोष लगाना ज़रा दुःसाहस का ही काम होगा, इस तरह से एकमत हैं।

प्रस्तुत लेख में मैंने उसी को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। संभव है उस कोशिश में कहीं कुछ पुनरावृत्ति दोष आ गया हो, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

सबसे पहले तो यही बात अच्छी तरह दिमाग़ में बैठ जानी चाहिए कि

यह सवाल उतना आसान नहीं है जितना ऊपर से नज़र आता है। बहुत उलझा हुआ ताना-बाना है जिसे, बुनावट को समझने के लिए, बड़ी सावधानी से अलग करने की जरूरत है। ये दोनों सहजात-सहोदर भाषाएँ हैं, और जैसा कि सब जानते हैं, सहोदरों का संबंध सबसे ज्यादा नाज़ुक, सबसे ज्यादा टेढ़ा होता है और जब दोनों वयस्क हो जायें तब उनके स्नेह-संबध को बनाये रखने की एक ज़रूरी शर्त यह हो जाती है कि दोनों को यह बात अच्छी तरह से, बिलकुल साफ़ और बेलाग शब्दों में समझा दी जाय या वे ख़ुद आपस में बैठकर समझ लें कि घर में किसका क्या काम है और किसकी क्या जगह है और किसका क्या या कितना हक़ है। जहाँ इन बातों की सफ़ाई नहीं होती और हर चीज़ गडमड छोड़ दी जाती है वहीं आपस में दरारें पड़नी शुरू हो जाती हैं, एक से दूसरे का दिल फटने लगता है, और देखते-देखते संयुक्त परिवार बिखर जाता है। हिन्दी-उर्दू के साथ भी यही बात है।

विलक्षण ढंग से ये दोनों भाषाएँ एक दूसरे से गुम्फित हैं — और जैसा मैंने कहा, उनके ताने-बाने को बड़ी सावधानी से अलग करके देखने की ज़रूरत है। उनका व्याकरण एक है, वाक्यविन्यास एक है, मुहावरे एक हैं, अस्सी-पचासी प्रतिशत शब्दभांडार एक है। ऐसी एकता कदाचित् संसार की किन्हीं भी दो भाषाओं में नहीं मिलती। यानी कि अगर आप एकता की दृष्टि से उनको देख रहे हैं। लेकिन अगर आप उन्हें उनकी भिन्नता की दृष्टि से देख रहे हों तो उनमें आपको भिन्नता के भी अनेकानेक सूत्र मिलेंगे जिन्हें पकड़कर दोनों भाषाएँ ऐसे दो छोरों पर पहुँच जाती हैं जहाँ फिर उनमें कोई समानता नहीं रह जाती और दोनों एक दूसरे के लिए नितान्त अपरिचित हो जाती हैं। दोनों भाषाओं के विकास में, शुरू से ही, ये दोनों विरोधी प्रवृत्तियाँ काम करती देखी जा सकती हैं, जैसा कि मैंने ऊपर भी कहा है और अब दुहराने की ज़रूरत नहीं है। पर इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बात बहुत नाज़ुक है और बहुत सँभालकर पैर बढ़ाने की ज़रूरत है।

दूसरी बात जिसकी सफ़ाई बहुत ज़रूरी है वह ये कि हम किस दृष्टि से उर्दू की बात कर रहे हैं या, दूसरे शब्दों में, किस उर्दू की बात कर रहे हैं —

(क) उर्दू जो हिन्दी की सहजात-सहचरी भाषा है, जो मूलतः हिन्दी से भिन्न नहीं है और हिन्दी के साथ अपने सैकड़ों वर्षों के मिले-जुले विकास के फलस्वरूप अपने उस मिले-जुले रूप में इस हिन्दी देश की सहज नागर भाषा है।

कता यानी जनसंघ को कठघरे में खड़ा करके सौ बात सुना देता है — और चुप हो जाता है। अकसर तो मुस्लिम साम्प्रदायिकता का नाम भी नहीं लिया जाता और लिया भी जाता है तो ऐसी जबान से या इस तरह घुमा-फिराकर कि जैसे उसकी सफाई पेश कर रहे हों! यह ठीक है कि और बातों की तरह ही इस बात में भी जनसंघ की भावधारा बिलकुल पुरानी और सामन्तयुगीन है। हिन्दू राज्य की कल्पना एक व्यर्थ कल्पना है, अनैतिहातिक कल्पना है और हिन्दू विचार एवं दर्शन की विरोधी एक अनैतिक कल्पना है। हिन्दू राज्य इस देश में न तो बन सकता है और न उसका बनना शुभ होगा। अतीत किसी को कितना ही प्रिय क्यों न हो, उसको लौटाकर नहीं लाया जा सकता, क्योंकि उस हजार साल के इतिहास को नहीं मिटाया जा सकता जिसमें होकर हम वर्त-मान तक पहुँचे हैं।

जहाँ तक मेरे देखने में आया है और मैं समझ पाता हूँ, साधारण हिन्दू समाज पर जनसंघ की इस कल्पना या परिकल्पना का कोई प्रभाव नहीं है। होता तो सबसे पहले उसको दिखायी देना चाहिए था जनसंघ के बढ़े हुए प्रभाव के रूप में, आजादी के ठीक बाद जब कि देश के विभाजन का घाव अभी बिल्कुल हरा था और दूसरी तरफ स्वाधीन भारत के नये राज्य का स्वरूप निहाई पर था। तब जनसंघ कहाँ था? कितने उसके माननेवाले थे और कितना उसका प्रभाव था? यह कोई यों ही सी बात नहीं है, बहुत गहराई से सोचने की बात है, क्योंकि उससे बड़े नतीजे निकलते हैं, और मुझे हैरानी है कि क्यों किसी विचारक का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया।

तब फिर सवाल होता है कि जनसंघ की बढ़ती हुई ताकत का रहस्य क्या है? उसका रहस्य है संकीर्ण दलबन्दी की राजनीति, चतुर्दिक् विग्रह और विघटन को जन्म देनेवाली शासनतन्त्र की व्यापक दुर्नीतियाँ, और बढ़ती हुई मुस्लिम साम्प्रदायिकता। इधर के वर्षों में मुस्लिम सांप्रदायिकता निश्चय ही अधिक संगठित और बलवती हुई है। तमिलनाडु और केरल की मुस्लिम लीग हो (जिसकी शाखाएँ हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भी खुलने लगी हैं) चाहे हैदराबाद की इत्तेहाद-उल-मुसलमीन, मुस्लिम जमात हो चाहे मुस्लिम मजलिस, और और भी पता नहीं कितने नीम-सियासी, नीम-मजहबी संगठन, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, और जो इन्कार करता है वह सच्चाई से आँखें चुराता है और अपने को धोखा देता है, कि इस बीच मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने अपने संगठन को खूब बढ़ाया है। इस सिलसिले में दो निर्भीक मुस्लिम विचा-रकों, हमीद दलवाई और फीरोज अशरफ के लेख जो पिछले महीने 'धर्मयुग' में

छपे थे, देखने से ताल्लुक़ रखते हैं। बिलकुल निर्भ्रान्त दृष्टि से प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने मुस्लिम समाज-मानस का चित्र प्रस्तुत किया है और सवाल उठाया है कि साम्प्रदायिकता की बात करते हुए सदा हिन्दू साम्प्रदायिकता की ही बात क्यों कही जाती है, मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भी क्यों उसके साथ-साथ कठघरे में नहीं खड़ा किया जाता? जब कि यह एक असलियत है जिसे सब स्वीकार करेंगे कि एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देती है, और इस तरह दोनों को ताकत पहुँचती है और उनके इस आपसी संघर्ष से गुत्थी पड़ती चली जाती है और होते-होते उनका एक 'चेन रिऐक्शन' कायम हो जाता है, सारा देश बारूद का एक पहाड़ हो जाता है जिसमें कोई छोटी-सी भी चिनगारी पड़ जाये तो विस्फोट हो जाता है।

तो फिर इसका उपाय क्या है? इस दुष्ट चक्र को कैसे काटा जाय, कैसे इस 'चेन रिऐक्शन' को खत्म किया जाय? उपाय बहुत-से हो सकते हैं, जिनके विस्तार में जाने की यहाँ जरूरत नहीं। पर कोई भी उपाय हो, सबसे पहले अपने कर्म की दिशा का ज्ञान जरूरी है, यानी यह कि इस सवाल पर हमारा रवैया क्या होगा? मैं समझता हूँ कि अगर इस मसले पर हमें किसी नतीजे पर पहुँचना है और साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा पैदा की हुई इस स्थिति में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करना है और जहर फैलानेवालों को अपने ढंग से, अपने स्तर पर, जहर फैलाने के लिए छुट्टा छोड़कर, दूर-दूर रहकर बस मीठी-मीठी अच्छी-अच्छी बातें नहीं करनी हैं, तो हमारा रवैया इस सवाल पर यही हो सकता है कि दोनों ओर की साम्प्रदायिक शक्तियों पर एक साथ चोट की जाय, उन पर भी जो हिन्दुओं में मुसलमानों के खिलाफ जहर फैलाते हैं और उन पर भी जो मुसलमानों में हिन्दुओं के खिलाफ जहर फैलाते हैं, उन पर भी जो बहुमत के हिन्दू राज्य की बात करते हैं और उन पर भी जो अल्पमत में होते हुए एक बार फिर मुस्लिम राज्य कायम करने का हौसला रखते हैं या अलग मुस्लिम रियासत की माँग करते हैं (यानी एक और पाकिस्तान!) और खुले-आम अपने पर्चों में इसका ऐलान करते हैं। सिर्फ एक पर चोट करके आप कभी कहीं नहीं पहुँच सकते — यही नहीं कि ऐसा करके आप उस दूसरी साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित कर रहे हैं, बढ़ावा दे रहे हैं, जिस पर आप चोट कर रहे हैं उसका भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते, उसको भी नहीं खत्म कर सकते, क्योंकि एक प्रतिपक्ष के उत्तर के रूप में प्रकृत्या उसके लिए जगह बनी रहती है। हम तो आगे बढ़कर यह तक कहने को तैयार हैं कि मात्र हिन्दू साम्प्रदायिकता पर की गयी एकपक्षीय चोट न केवल विफल रहती है बल्कि प्रकारान्तर से उसको

लेकिन उर्दू की इस माँग को अस्वीकार करने का अर्थ उर्दू के अस्तित्व या उसके महत्व को अस्वीकार करना नहीं है। शिक्षा और संस्कृति के अन्य सभी स्तरों पर उसे अपनी उन्नति और अपने विकास के लिए वे सभी सुविधाएँ मिलनी चाहिए, और साधिकार मिलनी चाहिए, जो दूसरी किसी भी राष्ट्रीय भाषा को उपलब्ध हैं — और अगर कुछ लोग उनसे भी उर्दू को वंचित करने की सोचते हों तो यह उनकी व्यर्थ कल्पना है और वे इस बात को समझें या न समझें उनकी इस दूषित मनोवृत्ति से जितना अनिष्ट उर्दू का होता है उससे ज़्यादा बड़ा अनिष्ट हिन्दी का और पूरे भारत देश का होता है।

साम्प्रदायिकता का सवाल

एकांगी दृष्टिकोण के ख़तरे

[यह लेख वामपक्षीय पत्र 'मुक्तधारा' के १७ अगस्त १६६८ के अंक में छपा था और बड़ी गरमागरम बहस का कारण बना जो छः महीने से अधिक चली और जिसमें बहुत-से लोगों ने हिस्सा लिया। सारी बहस 'मुक्तधारा' के पन्नों में ही हुई और उसके परवर्ती अंकों में देखी जा सकती है।

बहस के अंत में लेखक ने अपने आलोचकों के प्रश्नों और उनकी आपत्तियों का उत्तर देते हुए 'सांप्रदायिकता का सवाल : उल्टी समझ के खतरे' शीर्षक से अपना समापन-लेख लिखा।

ये दोनों लेख मिलकर अपनी पूरी बात कहते हैं और चूंकि लेख सामयिक होने के साथ-साथ भारतीय जीवन के एक महत्वपूर्ण प्रश्न से संबंध रखता है और सोचने के लिए एक नया आधार प्रस्तुत करता है, इसी विचार से उसे इस पुस्तक में सम्मिलित किया जा रहा है।]

पिछले दिनों देश के बहुत-से हिस्सों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, जिससे सभी सोचने-विचारनेवाले बहुत चिन्तित और क्षुब्ध है। बात ही ऐसी है। जिन दंगों से परेशान होकर देशवालों ने देश का बँटवारा तक स्वीकार किया और उसकी भरपूर कीमत भी चुकायी, उन्हीं दंगों से आजादी के इक्कीस बरस बाद आज भी मुक्ति न मिले, यह निश्चय ही चिन्तित और क्षुब्ध होने की बात है। इसी से आज इस मसले पर चारों तरफ खूब लिखा जा रहा है, और अभी कुछ रोज पहले श्रीनगर में देश के नेताओं का एक सम्मेलन भी हुआ था। सम्मेलन प्रधान मन्त्री ने ही बुलाया था, इसलिए स्वाभाविक था कि अमल में लाने के लिए कुछ सरकारी फैसले भी किये जाते।

यह सब अपनी जगह पर ठीक है, लेकिन जरा गौर से देखने पर ऐसा लगता है कि बात कुछ इकहरे ढंग से कही जा रही है, कि जैसे पूरी बात कहने में गला कहीं फँस रहा हो। जो भी यह बात करने उठता है वह हिन्दू साम्प्रदायि-

भी बढ़ावा देती है क्योंकि अनीति का आश्रय लेने पर साधारण स्वस्थमनस्क हिन्दू लोग भी, जिनके मन का संस्कार करना, जिन तक अपनी बात पहुँचाना ही आपका अभीष्ट है, आपका साथ छोड़ देने को बाध्य हो जाते हैं और जन-संघवालों के लिए बहुत-सा आसान चारा आप-से-आप जुट जाता है। सत्य और नैतिकता, सुनने में ये शब्द आज कितने ही पुराने और दकियानूसी क्यों न लगते हों, उनके आधार पर बनायी गयी नीति से ही अच्छे नतीजे की उम्मीद की जा सकती है — और सत्य यह है कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ दोनों खेमों में हैं और दोनों समान रूप से मुजरिम हैं।

यहाँ पर इस बहस में पड़ने से भी कोई फायदा नहीं कि यह झगड़ा कैसे शुरू हुआ, किसने शुरू किया ? मियाँ-बीवी के मामूली झगड़ों तक में तो यह बात कभी तय नहीं हो पाती, इस उलझे हुए गोले में वह छोर कहाँ मिलनेवाला है ! यह तो कुछ वैसी ही नातमाम — और नाकाम — बहस होकर रह जायगी कि पहले कौन हुआ, अंडा या मुर्गी ! जहाँ झगड़ा चुकाने की बात सोची जाती है वहाँ समझदार आदमी कभी इस तरह के खोद-विनोद में नहीं पड़ता, क्योंकि इस तरह एक नया झगड़ा भले ही खड़ा हो जाय, पुराना झगड़ा कभी नहीं चुक सकता। चुके भी कैसे, दोनों के पास अपना-अपना वकील का बस्ता होता है, दोनों के पास दूसरे के खिलाफ कहने को दस हजार बातें होती हैं, इतनी कि सुननेवाले का दिमाग खराब हो जाय। झगड़ा तो वहीं चुकता है जहाँ बिचवई करनेवाला समझदार होता है और पिछली बातों को जान-समझकर भी उनकी उखाड़-पछाड़ किये बगैर दोनों फरीकों को प्रस्तुत मुहूर्त में अपना झगड़ा खत्म करके सुख-चैन से रहने का रास्ता सुझा सकता है — मगर उसके लिए एक जरूरी शर्त यह भी है कि दोनों फरीकों के बीच उस बिचवई करनेवाले की साख हो, दोनों उसकी निष्पक्षता और न्याय-बुद्धि पर समान रूप से विश्वास रखते हों और यह साख तब तक कायम नहीं हो सकती जब तक उस आदमी के बारे में उन दोनों फरीकों का अपना पिछला अनुभव इस बात की गवाही न देता हो कि यह आदमी मुँहदेखी नहीं कहता, हमेशा सच बात कहता है : फलाँ वक्त उसकी फलाँ बात हमको नागवार जरूर गुजरी थी मगर, ईमान से कहना, क्या यह सच नहीं है कि सच्चाई वही थी जिस पर यह आदमी अटल रहा !

न्याय का आसन हमेशा काँटों का आसन रहा है। छोटी-छोटी बातों तक में तो बिचवई करनेवाले के ईमान की परख की जाती है, यह तो फिर बहुत बड़ी बात है। मुँह देखकर, मौका-महल देखकर बात कहनेवाले की कोई साख नहीं होती, यहाँ तक कि जिसकी तरफदारी की जा रही है, वह भी सच्चे दिल

से उस पर विश्वास नहीं करता। यहाँ चतुराई का खेल नहीं ईमान का खेल है, और ईमान का साहस आदमी को सदा पहले अपने भीतर से पाना होता है, वक्त की मुहर तो बाद को लगती है। दुर्भाग्य की बात है कि राष्ट्र के इस जीवन-मरण के प्रश्न पर नेतागण — क्या दक्षिणपंथी और क्या वामपंथी, कहीं कोई अन्तर नहीं है — ईमान को ताक पर रखकर उसी चतुराई का सहारा ले रहे हैं, कुछ भी कहने के पहले वे इस बात को जाँच लेना जरूरी समझते हैं कि चुनाव पर, उनको या उनके दल को मिलनेवाले वोट पर, उस चीज का क्या असर पड़ेगा और उस ओर से जब उन्हें खटका मालूम होता है तब वे 'अश्वत्थामा हतो' वाले उस पुरातन अर्ध-सत्य का सहारा लेते हैं, और कौन नहीं जानता कि अर्ध-सत्य सबसे बड़ा झूठ होता है। शायद वे समझते हैं कि अपनी इस नीति से वे अपने वोट की रक्षा कर ले जाते हैं, पर यह सरासर उनका भ्रम है। इस स्थिति का लाभ केवल साम्प्रदायिक शक्तियों को मिलता है — दोनों ओर की साम्प्रदायिक शक्तियों को। जनसंघ की बढ़ती हुई ताकत चुनाव के नतीजों से स्पष्ट है, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उतनी स्पष्ट नहीं है क्योंकि (कम-से-कम अभी) पृथक् निर्वाचन नहीं है। ताहम जाननेवाले अच्छी तरह जानते हैं कि मुसलमान वोट की कुंजी उन्हीं साम्प्रदायिक मुस्लिम शक्तियों के हाथ में पहुँच चुकी है या बहुत तेजी से पहुँचती जा रही है, और इसीलिए मुसलमान का वोट पाने के लिए सबको उनका शरणागत होना पड़ता है। शरण देनेवाला अपनी ताकत को समझता है और अपनी कीमत वसूल करके, अपने प्रतिज्ञापत्र पर प्रार्थी के हस्ताक्षर करवा के मदद देना कबूल करता है। यह ठीक है कि जहाँ इतने सारे राजनीतिक दल हों और थोड़े-से ही वोटों की चढ़ा-ऊपरी से प्रार्थी की जीत-हार होती हो, वहाँ एकमुश्त वोटों का लालच कोई छोटा लालच नहीं होता। पर वह जो भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि यह कोई अच्छी स्थिति नहीं है, विपज्जनक स्थिति है — कम-से-कम अगर अपने या अपने दल के संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, सम्पूर्ण देश के सम्यक् विकास की दृष्टि से विचार करना है।

इस एकांगी नीति के समर्थन में अक्सर यह दलील दी जाती है कि हिन्दू इस देश में बहुसंख्यक हैं और मुसलमान अल्पसंख्यक। पहली बात तो यह कि सत्य और न्याय का विचार करते समय संख्या का प्रश्न ही नहीं उठता। सौ आदमी झूठ बोलें तब भी वह झूठ है, और एक आदमी सच बोले तब भी वह सच है। दूसरी बात यह कि मुसलमान हिन्दुओं से भले संख्या में कम हों और इस

नाते अल्पसंख्यक हों, पर (पाकिस्तान की आबादी के बराबर और यूरोप के कई-कई देशों की सम्मिलित आबादी के बराबर) आठ करोड़ की संख्या कोई छोटी संख्या नहीं है और उन्हें अल्पसंख्यक स्वीकारते हुए भी दूसरे अल्पसंख्यकों से उनके इस अन्तर को ध्यान में रखना जरूरी है। जहाँ संख्या की ही बात हो वहाँ फिर तुलनात्मक संख्या की ही बात क्यों हो ? अरबपती के मुकाबले में करोड़पति कुछ नहीं है और करोड़पति के मुकाबले में लखपती कुछ नहीं है, लेकिन इसी कारण से करोड़पती और लखपती को निर्धन या अल्पधनवाला तो नहीं कहा जा सकता — उसी तरह जैसे इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में कुल सौ रुपये की पूँजी के मालिक को धन्नासेठ नहीं कहा जा सकता, भले उसके आस-पास के लोगों को दस-पाँच रुपया मिलना भी मुहाल हो।

यहाँ कहने का मतलब यह कि संख्या का आपेक्षिक ही नहीं अपना भी महत्व होता है। और फिर मुस्लिम समाज जितना संगठित और एकताबद्ध है (जो कि बड़ी अच्छी बात है अगर अलगाव की भावना उसमें से दूर की जा सके, जो कि शायद सच्चे समाजवादी समाज में ही ढंग से सम्भव होगा, आज के इस महाजनी समाज में नहीं) उनकी संख्या की यह गुरुता और भी बढ़ जाती है, विशेषकर जब हम उसकी तुलना हजारों जात-पाँत में बिखरे हुए हिन्दू समाज से करते हैं। उस दृष्टि से विचार करने पर तो शायद हिन्दू ही इस देश के अकेले अल्पसंख्यक ठहरेंगे ! बात सुनने में उलटबाँसी जैसी लगती है मगर सच है, क्योंकि मर्दुमशुमारी में दर्ज कराने के अलावा और तो किसी वक्त कोई हिन्दू मिलता नहीं, जो मिलता है वह या तो ब्राह्मण होता है या क्षत्रिय होता है या कायस्थ होता है या वैश्य होता है या फिर और नीचे उतरकर श्रीवास्तव या सक्सेना होता है या सरयूपारी या कान्यकुब्ज होता है, गरज कि हिन्दू कोई नहीं होता, हिन्दुस्तानी होना तो और भी दूर की बात है जो कि शायद अभी सोची भी नहीं जा सकती !

तीसरी और शायद सबसे बड़ी बात जो भूलने की नहीं है, यह है कि यह हिन्दुस्तान अभी कल तक एक देश था जिसका बँटवारा हुआ है और हिन्दुओं और मुसलमानों को दो पृथक् इकाइयाँ मानने के आधार पर बँटवारा हुआ है। यह समस्या को विशेष रूप से जटिल बनानेवाली एक स्थिति है जिस पर गहराई से सोचने की जरूरत है और जिसका समाधान शायद बहुत सरल न हो। पाकिस्तान की आक्रामक नीतियों के बारे में शायद ज्यादा कुछ कहने की जरूरत नहीं। तीन बार उनके हमले हो चुके हैं। चौथे हमले की तैयारियाँ हो रही हैं। सीमा पर कुछ-न-कुछ छेड़छाड़ बराबर लगी ही रहती है। नागा-मीजो लोगों को हथि-

यारों की मदद देकर वे हमारे अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप कर ही रहे हैं। यों भी देश के अन्दर उनके भेदिये जब-तब पकड़े ही जाते हैं, पाकिस्तानी ठप्पे के हथियार भी बरामद होते है और क्या अजब कि जितनी ढीली-ढाली इस देश की शासन-व्यवस्था है इस तरह की कार्रवाइयों में और तेजी न लायी जा रही हो। शुतुरमुर्ग की तरह रेत में सर गाड़ लो तब तो खैर कहीं कुछ नहीं वर्ना तो मानना होगा कि ये सजीव आशंकाएँ हैं जिनकी ओर से सतर्क रहने की जरूरत है। खासकर ऐसी हालत में कि वह अलगाव की जेहनियत जिसने पाकिस्तान को जन्म दिया (और पाकिस्तान ने अपने को इस्लामी रिपब्लिक घोषित करने में एक मिनट की भी देर नहीं की!) वह अब भी मिटी नहीं है, बल्कि बढ़ी है, और बढ़ायी जा रही है और आगे भी ज्यादा से ज्यादा बढ़ायी जाती रहेगी क्योंकि यही जनसंघ और हिन्दू महासभा की समानधर्मा मुस्लिम साम्प्रदायिक शक्तियों की भी पूँजी है जिससे उन्हें अपना कारोबार करना है। यह तो बहुत सीधी-सी मोटी-सी बात है, कैसे इतने बड़े-बड़े दिमाग वालों की नजर से ओझल हो जाती है समझ में नहीं आता।

एक अजीब तरह का 'डब्ल-थिंक' और 'डब्ल-टॉक' देखने में आता है। मैं अपने ऐसे कितने ही वामपक्षी दोस्तों को जानता हूँ जो अपने दिल में अच्छी तरह समझते हैं और आपस में स्वीकार भी करते हैं कि हिन्दू साम्प्रदायिकता की ही तरह मुस्लिम साम्प्रदायिकता भी एक सच्चाई है जिसकी ओर से आँख नहीं मूँदी जा सकती, लेकिन पब्लिक तौर पर यह बात कहने में उनकी जबान अटकती है क्योंकि जाने कैसे उन्होंने यह समझ लिया है कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता की बात कहना हिन्दू साम्प्रदायिकता है। कहना मुश्किल है पर कौन जाने इस तरह का यह संकोच खुद एक 'इनवर्टेड' किस्म की, उल्टे मुँह की हिन्दू साम्प्रदायिकता हो! वर्ना क्या बात है कि वही लोग जो सामाजिक जनक्रांति के कर्मी हैं और हिन्दू-मुसलमान-सिख-ईसाई-जैन-बौद्ध के भेदभाव के ऊपर उठकर समस्त जनता को उसी लक्ष्य की दिशा में सबसे पहले मानसिक रूप से तैयार करने के व्रती हैं, इस सवाल पर खुलकर पूरी बात नहीं कह सकते, जब कि वह देख रहे हैं कि और बातों के साथ-साथ उनकी इस कोताही के कारण भी दोनों ओर की साम्प्रदायिक शक्तियाँ जनता को अलग-अलग खेमों में बाँटकर उस क्रान्ति की संभावना को छिन्न-भिन्न किये डाल रही हैं? मेरी समझ में, पहले तो हमें दोनों ओर की साम्प्रदायिकता पर समान रूप से चोट करना है और फिर जहाँ उनके खिलाफ अलग-अलग मोर्चा सँभालना है वहाँ हिन्दू साम्प्रदायिकता से मोर्चा लेने की मुख्य जिम्मेदारी स्वतंत्रचेता, प्रगतिशील, हिन्दू (या हिन्दू नामधारी, क्योंकि मैं सम-

झता हूँ मेरी ही तरह और भी बहुत से लोग होंगे जो केवल नाम से हिन्दू हैं) विचारकों और बुद्धिजीवियों और कर्मियों की हो और मुस्लिम साम्प्रदायिकता से मोर्चा लेने की मुख्य जिम्मेदारी स्वतंत्रचेता, प्रगतिशील, मुस्लिम (या मुस्लिम नामधारी) विचारकों और बुद्धिजीवियों और कर्मियों की हो। इस तरह एक ऐसी प्रक्रिया शुरू हो सकेगी जो दोनों ओर की साम्प्रदायिकता-विरोधी शक्तियों को बल पहुँचायेगी और धीरे-धीरे साम्प्रदायिकता के इस दुष्ट-चक्र को काट सकेगी। मेरी समझ में दूसरा कोई रास्ता नहीं है क्योंकि मेरा विश्वास है कि यह एकांगी दृष्टिकोण दोनों ओर के साम्प्रदायिक तत्वों को मजबूत और साम्प्रदायिकता-विरोधी तत्वों को कमजोर करता है।

साम्प्रदायिकता का सवाल

उल्टी समझ के ख़तरे

सारी बहस आपके सामने है और मानना होगा कि और कुछ हो या न हो बहस खासी जानदार रही। यही क्या कम है कि एक ऐसे जरूरी सवाल पर इतने लोगों ने अपने-अपने ढंग से कुछ बातें कहीं। बेशक मैंने इससे ज्यादा खुले दिमाग की और ज्यादा उपयोगी बहस की उम्मीद की थी, एक ऐसी बहस की जो लोगों को सोचने के लिए एक नयी जमीन दे सके, जो यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर वास्तविक जन-मानस को कहीं पर छू सके, उसको एक स्वस्थ दिशा और नया संस्कार दे सके — और इस नाते आज की वस्तुस्थिति में, उसको मोड़ने और बदलने की दिशा में, स्वस्थ ढंग से, क्रियात्मक ढंग से, रचनात्मक ढंग से, क्रांतिकारी ढंग से, अपने सामर्थ्य भर कुछ हस्तक्षेप कर सके। मेरा दुर्भाग्य है कि यह बहस उस ढंग की नहीं हो सकी, और मुझे कोई अफसोस है तो इसी एक बात का।

मेरा लेख में नाराज होने की ऐसी कोई बात नहीं है। भले आप अभी इस बात को समझें या न समझें, मैंने जो दृष्टिकोण सामने रखने की कोशिश की है वह इस बेतरह उलझे हुए साम्प्रदायिक सवाल पर एक बार फिर उस इनीशिएटिव, नेतृत्व, को प्रगतिशील-जनवादी शक्तियों के हाथ में वापस लाने का प्रयत्न है जिसे मैं समझता हूँ उन्होंने फिलहाल दोनों ही तरफ की अन्धी साम्प्रदायिक शक्तियों के हाथ बहुत कुछ खो दिया है और बड़ी तेजी से खोते जा रहे हैं। समय ही इसको भी प्रमाणित करेगा। जहाँ तक मेरी बात है, मेरे मन में रंचमात्र सन्देह नहीं है कि अगर जल्दी ही उनकी आंखों पर से यह पर्दा नहीं हटता और वह निर्भीक-निष्पक्ष सच्चाई का अनुसरण करते हुए अपनी रीति-नीति में परिवर्तन नहीं करते तो उनका जन-आधार इस कारण से भी संकुचित होगा और जरूर होगा, किसी तरह इसको नहीं बचाया जा सकता। इसी चिन्ता और आकुलता के भीतर से मेरा पहला लेख लिखा गया था, और यही उसकी मूल प्रतिज्ञा थी।

'मैं समझता हूँ कि अगर इस मसले पर हमें किसी नतीजे पर पहुँचना है और साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा पैदा की हुई इस स्थिति में सक्रिय रूप से

हस्तक्षेप करना है, और जहर फैलानेवालों को अपने ढंग से, अपनें स्तर पर जहर फैलाने के लिए छूट्टा छोड़कर, दूर-दूर रहकर, बस मीठी-मीठी, अच्छी-अच्छी बातें नहीं करनी हैं, तो हमारा रवैया इस सवाल पर यही हो सकता है कि दोनों ओर की साम्प्रदायिक शक्तियों पर एक साथ चोट की जाय, उन पर भी जो हिन्दुओं में मुसलमानों के खिलाफ जहर फैलाते हैं, और उन पर भी जो मुसलमानों में हिन्दुओं के खिलाफ जहर फैलाते है, उन पर भी जो बहुमत के हिन्दू राज्य की बात करते हैं और उन पर भी जो अल्पमत में होते हुए एक बार फिर मुस्लिम राज्य कायम करने का हौसला रखते हैं या अलग मुस्लिम रियासत की माँग करते हैं (यानी एक और पाकिस्तान !) और खुले आम अपने पर्चों में इसका एलान करते हैं । सिर्फ एक पर चोट करके आप कभी कहीं नहीं पहुँच सकते...'

मैं अब भी अपनी बात पर अटल हूँ (यह लुक़्मा मेरे मेहरबान दोस्त नाम-वरजी के लिए है — अटलबिहारी बाजपेयी के नाम पर खेलकर मुझे उनके साथ मिला देने की यहाँ भरपूर गुंजाइश है !) और समझ नहीं पाता, लाख सर मारने पर भी समझ नहीं पाता कि मैंने आखिर ऐसी कौन-सी भयानक बात कह दी जिसे लेकर पाँच-पाँच महारथी मेरे ऊपर टूट पड़े, कि जैसे कोई भिड़ का छत्ता हो और मैंने उसमें हाथ मार दिया हो ! मुझे रत्ती भर दुख नहीं है कि मैंने क्यों उसमें हाथ मारा । जरूरी था । किसी को तो मारना था । और न यह कोई ऐसी बात हुई जिसकी मुझे आशंका नहीं थी । दसियों बरस से चली आती हुई एक चिन्तनरूढ़ि पर इस तरह सीधा-सीधा हमला होगा तो कुछ लोग भन्नायेंगे ही । उसमें अचरज की ऐसी कोई बात नहीं । मैं जानता था, और जानता ही नहीं शायद चाहता भी था, जभी तो इस लेख के लिए मैंने 'मुक्त-धारा' को चुना, वर्ना छपने को तो वह और भी बीस जगह छप सकता था । लेकिन मेरी बदकिस्मती है कि यह बहस उस तरह से नहीं चली, या चलायी नहीं गयी, और अक्सर लोगों ने मुझे गाली देकर ही सन्तोष कर लिया — एक अकेले गिरीश माथुर ने मुद्दे पर बहस की जो कि बहुत अच्छी मालूम हुई । इसलिए नहीं कि मैं उनकी बातों से सहमत हूँ, इसलिए कि उन्होंने गम्भीरता से इस सवाल पर सोचा है और सुथरे ढंग से अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है । खेद है कि औरों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता । उन्होंने या तो इस मौके का लाभ उठाकर समाजवाद का अपना थोड़ा-सा किताबी ज्ञान प्रद-र्शित किया है और रवारवी में थोड़ा-सा आत्म-विज्ञापन कर लिया है, या सिद्ध-हस्त नट की तरह, भाँति-भाँति के भाव बतलाकर, तरह-तरह के पैंतरे और

पहलू बदलकर, एक तिरछी-सी मुस्कान के साथ यह साबित करने में अपनी सारी कला खर्च कर दी है कि अमृत जनसंघी हो गया है, या मेरी इस नादानी पर आँसू बहाकर मुझे ठीक रास्ते से लगाने की कोशिश की है, या फिर मुझे दफनाते हुए मेरी कब्र पर एक मुट्ठी मिट्टी डाल दी है। यानी कि और सब किया है, सिवाय उस मुद्दे पर बहस करने के। क्या इसलिए कि वह कुछ असुविधाजनक लगा ? वर्ना फिर बहस को इधर-उधर भटकाने की कोशिश क्यों ? अमृत जन-संघी हो गया है या नहीं हो गया, या हुआ तो रुपये में कै आने हुआ, इससे क्या लेना-देना ? भाड़ में झोंको उसको। जहाँ इतने हजारों-लाखों लोग जनसंघी हों वहाँ एक और सही। छोड़ो उसको, अगर वह आप अपनी मिट्टी खराब करने पर तुला है, तो कहाँ तक बचाओगे उसको। असल जरूरत तो हिम्मत के साथ उस सवाल से आँखें चार करने की है जो कि उसने उठाया है, और मुझे अफसोस है कि उसी से लोग कतराकर निकल गये हैं — जैसा कि मैं दिखाने की कोशिश करूँगा।

आइये जिस क्रम से ये प्रतिक्रियाएँ सामने आयीं उसी क्रम से हम उन पर नजर डालें।

सबसे पहले मन्मथनाथ जी। आपने बहुत शास्त्रीय विवेचन करके बतलाया कि हमारे स्वाधीनता आन्दोलन की राष्ट्रीय चेतना, वह चाहे बंकिम की हो और चाहे विवेकानन्द की, चाहे तिलक की हो और चाहे गांधी की, चाहे खुदी-राम बोस की हो औंर चाहे रामप्रसाद 'बिस्मिल' की, वह 'हिन्दू राष्ट्रीयता' थी। मैं नहीं जानता कि ऐसा कहना कहाँ तक ठीक है। मैं समझता हूँ कि वह भारतीय राष्ट्रीयता थी जिसके साथ एक जन्मजात हिन्दू संस्कार लगा हुआ था, जो उसका दोष नहीं सहज नैसर्गिक गुण था, जैसे शायद फूल में मिट्टी की गन्ध भी किसी न किसी रूप में आ जाती होगी। उसको सपाट ढंग से 'हिन्दू राष्ट्रीयता' कह देना शायद भ्रामक होगा, इसलिए कि उसके पीछे 'हिन्दू राष्ट्र' की परिकल्पना नहीं है और विवेकानन्द और गांधी की राष्ट्रीयता को हिन्दू राष्ट्रवादी गोलवलकर और बलराज मधोक से अलग करके देखना जरूरी है, वर्ना उससे गलत नतीजे निकलते हैं — जैसे मन्मथनाथजी का ही यह निष्कर्ष कि 'कोई भी भारतीय मुसलमान सही रूप में राष्ट्रवादी नहीं हो सकता और इसकी हमें चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए।' स्पष्ट है कि उन्होंने धर्म और राष्ट्रीयता को पर्यायवाची मान लिया है, जिसमें से ही मुस्लिम लीग और जिन्ना का दो राष्ट्र वाला सिद्धान्त निकला और, पता नहीं मन्मथनाथजी का ध्यान इस बात की ओर गया है या नहीं, उनकी यह बात इतिहास को तो झुठलाती ही

है, उससे एक ओर सच्चे देशप्रेमी मुसलमानों के प्रति बड़ा अन्याय होता है और दूसरी ओर उनके सम्बन्ध में जनसंघी प्रचार को बल मिलता है।

इस तरह, अपने ढंग से यह दिखाने के बाद कि भारतवर्ष में जिस राष्ट्रीयता का विकास हुआ वह हिन्दू राष्ट्रीयता थी, मन्मथनाथजी आगे चलकर बताते हैं कि उसका 'नतीजा यह हुआ कि उनके (यानी मुसलमानों के — अ०) हाज़मे के लिए अरब, तुर्की, ईरान, मिस्र से प्रोटीन और विटामिन आते रहे। केवल यही नहीं, मुसलमानों ने सर सैयद अहमद और हाली की रहनुमाई में एक अलग राष्ट्रीयता का विकास किया, जिसका छोर जाकर पैन-इस्लामवाद में मिलता था ...' (और जिसकी परिणति देश के बँटवारे और पाकिस्तान की स्थापना के रूप में हुई ! — अ०) मैं समझता हूँ, यह आकस्मिक नहीं है कि मन्मथनाथजी एक ओर स्वाधीनता आन्दोलन में मुसलमानों के योगदान को भूल गये हैं और दूसरी ओर मुसलमानों को भटकानेवाली पैन-इस्लामवाद जैसी प्रतिगामी प्रवृत्तियों के पीछे काम करनेवाले ब्रिटिश साम्राज्य और उसके हिन्दुस्तानी टोडी बच्चों के हाथ उन्हें नहीं दिखायी पड़े ! यह और कुछ नहीं, भारतीय इतिहास की, भारतीय संस्कृति की और भारतीय राष्ट्रीयता की उनकी गलत और अनैतिहासिक समझ का ही नतीजा है कि सारी बात इस तरह गडमड होकर सामने आ रही है और उससे इस तरह के उल्टे-पुलटे निष्कर्ष निकल रहे हैं कि जो लेख 'लिबलिब राष्ट्रीयतावादी' अमृतराय के लेख के जवाब में शायद मुसलमानों के समर्थन में लिखा जा रहा है वह उन मुसलमानों को एक ऐसे रंग में पेश कर रहा है जिसे देखकर किसी भी जनसंघी के दिल की कली खिल उठेगी; उससे ज्यादा डैमेजिंग बातें, मुसलमानों को सन्देहास्पद बनानेवाली बातें, वह और चाह भी क्या सकता है ! फिर, मन्मथनाथजी ने यह भी नहीं बताया कि उस पैन-इस्लामवादी प्रवृत्ति का देश के बँटवारे के बाद क्या हुआ, आज उसकी क्या स्थिति है ? और जब वह कह ही चुके हैं कि 'कोई भी भारतीय मुसलमान सही रूप में राष्ट्रवादी नहीं हो सकता' तो यही समझना चाहिए कि वह चीज अभी मिटी नहीं है। और शायद उनका यही इशारा है जब कि वह कहते हैं :

'स्वतन्त्रता के साथ ही पाकिस्तान का उदय हुआ। पाकिस्तान तो दो राष्ट्र के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है और वह अपने यहाँ की समस्याओं पर से ध्यान हटाने के लिए बराबर भारत के विरुद्ध प्रचार करता रहता है। इसलिए मैं समझता हूँ कि पाकिस्तान होने से भारत में मुसलमानों को सही रास्ते

पर ले जाने का (यानी कि वे अभी सही रास्ते पर नहीं हैं ! — अ०) काम शायद रूस से भी कठिन हो गया है ।

फिर क्या किया जाय उनको सही रास्ते पर ले जाने के लिए ?

मैं चूँकि मुसलमानों की ओर से ऐसा निपट निराशावादी नहीं हूँ कि 'कोई भी भारतीय मुसलमान सही रूप में राष्ट्रवादी नहीं हो सकता और इसकी हमें चेष्टा भी नहीं करनी चाहिए'; चूँकि मेरा विश्वास है कि सच्चे देशप्रेमी और राष्ट्रवादी मुसलमानों की इस देश में कमी नहीं है; चूँकि मेरा विश्वास है कि इस सवाल पर एकांगी दृष्टिकोण रखने से मुसलमानों के बीच सच्चे देशप्रेमी राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों की और हिन्दुओं के बीच सच्चे, स्वस्थमनस्क और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयतावादी हिन्दुओं की स्थिति कमजोर होती है और दोनों ओर की सांप्रदायिक शक्तियों को बल मिलता है, इसीलिए मैंने सुझाव दिया कि इस दुष्ट चक्र को काटने के लिए 'दोनों ओर की साम्प्रदायिक शक्तियों पर एक साथ चोट की जाय ।' लेकिन अब सुनिए मन्मथनाथजी का इसके संबंध में क्या कहना है :

'भारत में हिन्दुओं का बहुमत है, इस नाते हिन्दू लेखक-प्रचारक आदि हिन्दू सम्प्रदायवादियों को ही कोस सकते हैं । यदि वे इससे बाहर जाकर मुस्लिम सम्प्रदायवादियों की निन्दा करें तो उसका गलत मतलब लगाया जा सकता है और उसकी अपव्याख्या की जा सकती है ।' यानी कि उन्हें उसूलन् मेरी बात से कोई विरोध नहीं है, जो है वह व्यावहारिकता के स्तर पर, दुनियादारी के स्तर पर ! सो निवेदन है कि हर जगह दुनियादारी नहीं देखी जाती । जहाँ दुनियादारी के नाम पर ईमान का सौदा किया जाता है उसी का दूसरा नाम अवसरवादिता या मौकापरस्ती है — खासकर ऐसे मामलों में जहाँ मुल्क की तकदीर बनती-बिगड़ती हो । दूसरी बात इस सिलसिले में यह है कि मन्मथनाथजी की इसी आपत्ति को ध्यान में रखते हुए मैंने हिन्दू साम्प्रदायिकता से लड़ने की मुख्य जिम्मेदारी प्रगतिशील हिन्दू विचारकों पर और मुस्लिम साम्प्रदायिकता से लड़ने की मुख्य जिम्मेदारी प्रगतिशील मुस्लिम विचारकों पर रखी है, जिस पर उन्होंने शायद काफी ध्यान नहीं दिया । वैसे मैं इतना और कह दूँ कि मैं इस तरह की कोई कट्टर खानाबंदी नहीं करना चाहता । जिन राजनीतिक कर्मियों ने अपनी पूरी की पूरी जिंदगी किन्हीं लोगों की खिदमत में सर्फ कर दी और जाने कितनी बार उनके आड़े वक्त काम आये, जाने कितने संघर्षों में उनके साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर लड़े, उन्हें क्यों अपने हिन्दू नाम से डर मालूम होता है, मैं समझ नहीं पाता । क्यों उनके भीतर यह विश्वास नहीं जागता कि अगर उनकी बात सही है और पूरे ईमान से कही जा रही है तो दूसरे सम्प्रदाय का आदमी भी

उसी निष्ठा से उनकी बात को सुनेगा और उनको ग़लत नहीं समझेगा ? मन की यह कैसी ग्रंथि है ? क्या यह वही चीज़ नहीं है जिसे मैंने उल्टे मुँह की साम्प्रदायिकता कहा है ? और जहाँ तक ग़लत मतलब लगाये जाने और अपव्याख्या की बात है, उसका डर तो मुँह खोलने के साथ लगा हुआ है — अपने लेख की इन अनोखी प्रतिक्रियाओं को देखकर इसका मुझे विशेष बोध हो रहा है ! — लेकिन क्या इस डर से हम सब मुँह में दही जमा लें ? या सिर्फ़ दुनियादारी और मामलेबाज़ी की बातें किया करें ? नहीं मन्मथनाथजी, काम जैसे लिबलिब राष्ट्रीयता से नहीं चलेगा वैसे ही लिबलिब समाजवाद से भी नहीं चलेगा ! समाजवाद किताब के पन्नों में बंद मुर्दा शब्द का नाम नहीं है। और न वह कोई रामनामी दुपट्टा है जिसे आदमी गले में डालकर खिचड़ी पकाता बैठा रहे कि समाजवाद हो जायेगा (यानी किसी जादू-टोने से खुद-ब-खुद आसमान से टपक पड़ेगा !) तो यह होगा और वह होगा। समाजवाद उसको कहते हैं जो सदा वर्तमान जीवन-स्थितियों से, प्रस्तुत सन्दर्भ से जुड़ने की दृष्टि देता है, ताकि उसी की रोशनी में समाज को आगे बढ़ाया जा सके और अगर सामाजिक जनक्रांति के बिना देश आगे नहीं बढ़ सकता, जो कि आज इस देश में स्थिति है, तो देश को, समाज को, उसके लिए तैयार किया जा सके। मैं भी जानता हूँ कि जैसे भूख और बेकारी और अशिक्षा और चोर-बाजारी और हत्या और आत्महत्या और इस भयानक तेज़ी से फैलती हुई चोरी-डकैती और अस्मतफ़रोशी और ऐसी ही और भी पाँच सौ समस्याओं का अंतिम समाधान सच्चे समाजवाद में ही है, उसी तरह इस बहुभाषी, बहुजातीय, बहु-धर्मावलम्बी महादेश में भाषाओं, जातियों और धर्मों की एकता और पारस्परिक सद्भाव की समस्या का भी अंतिम समाधान सच्चे समाजवाद में ही है। लेकिन सवाल यह नहीं है कि जब देश में सच्चा समाजवाद आ जायेगा तब आप क्या करेंगे — तब तो शायद मन्मथनाथजी की वह किताब पढ़ लेने से भी काम चल जायेगा जिसमें, वह कहते हैं, कि इन सभी बातों की विशद चर्चा है — सवाल तो यह है कि वह सच्चा समाजवाद आयेगा कैसे ? जनता को एकताबद्ध और संगठित किये बिना वह समाजवादी-जनवादी क्रान्ति आयेगी कैसे ? और क्रान्ति के साँचे में ढली-ढलायी जनता तो कहीं मिलनेवाली नहीं, वह तो जैसी है, वैसी है, अपनी अच्छाई-बुराई समेत, उसी को लेकर काम करना है, उसी को तैयार करना है, और अपने घर ले आकर, शीशे के कमरे में बन्द करके, हवा-पानी, सर्दी-गर्मी से बचाकर नाजुक पौदों की तरह उसको सेने-पोसने की भी सहूलत नहीं, वह तो बाज़ार में खड़ी है, सड़कों पर खड़ी है, तरह-तरह के थपेड़े खा

रही है और ज़माने भर की आवाजें परम वैभवशाली स्थापित स्वार्थों के विराट् प्रचारयंत्रों से हर क्षण उसके कानों में फेंकी जा रही हैं, जिनका काम उसी जनता को भटकाना है, उसकी सम्भावित क्रान्ति-चेतना को कुण्ठित करना है, उसको असंख्य टुकड़ों में बाँटकर इतना दुर्बल और क्षीण कर देना है कि उसके एकजुट होकर क्रांति करने और पूँजी की स्थापित व्यवस्था को चुनौती देने की सम्भावना ही नष्ट हो जाय ... और इसी सब के बीच, इन सब षड्यंत्रों को विफल करके, इस खंड-खंड बिखरी हुई और भटकती हुई जनता को समेटना है और एक करना है और संगठित करना है — यानी कि अगर जनक्रान्ति होनी है और समाजवाद की स्थापना होनी है । लिहाजा मन्मथनाथजी, सवाल समाजवाद की स्थापना के बाद होनेवाले अंतिम समाधान का नहीं, समाजवाद की स्थापना के पहले, समाजवादी क्रान्ति के लिए तत्काल किये जानेवाले आवश्यक समाधान का है, जिसके बिना कुछ होने-जानेवाला नहीं है, सिवाय पीछे सरकने और बर्बादी के कगार की तरफ बढ़ने के ...

सभी जातियों और सभी धर्मों के माननेवालों की, उनमें भी सबसे अधिक संख्याबहुल दो धर्मों के माननेवालों, हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता, (ईश्वर-अल्ला तेरे नामवाली लिबलिब एकता नहीं, क्रान्तिकारी एकता) इस महादेश के किसी भी बड़े जन-आन्दोलन की एक अनिवार्य ऐतिहासिक माँग है, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता, जिससे कतराकर निकला नहीं जा सकता, और जब भी ऐसा किया गया है इसकी भयानक क़ीमत चुकानी पड़ी है । यह बात स्वाधीनता आन्दोलन के लिए भी सही थी, और उसके बाद आज जनवादी क्रान्ति के लिए भी सही है । स्वाधीनता आन्दोलन में, जहाँ तक और जिस अर्थ में और जिस अनुपात में, प्रगतिशील समाजवादी तत्वों का अंशग्रहण दुर्बल था, क्षीण था, वहीं तक और उसी अर्थ में और उसी अनुपात में उस आन्दोलन के चरित्र को बनाने की दिशा में उनका प्रभाव दुर्बल और क्षीण रहा (जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों की क्रान्तिकारी, संघर्षशील, राष्ट्रीय एकता की दुर्बलता को न मिटा पाना भी शामिल है) और वहीं तक और उसी अर्थ में और उसी अनुपात में उस आंदोलन से मिलनेवाली स्वाधीनता के स्वरूप को (जो देश के बँटवारे और भीषणतम हत्याकांड के रूप में मिली) प्रभावित करने, रोकने या बदलने में वे असमर्थ रहे । बल्कि शायद यह भी कहना गलत न होगा कि पाकिस्तान की माँग का समर्थन करके कम्युनिस्ट पार्टी ने उल्टी ही दिशा में काम किया । इसलिए मन्मथनाथजी, कहना यह है कि जो कुछ हुआ वह अटल नियति नहीं थी । उसके कुछ सामाजिक-राजनीतिक कारण थे, जिनमें से एक

इन्हीं उपरोक्त प्रगतिशील जनवादी तत्वों की भूमिका भी है। आज की परि-स्थितियों में फिर वही गलती न दुहरायी जाये, इस हद तक कि एक बार फिर वही पूँजीवादी शक्तियाँ, जो आज पहले से कहीं अधिक सबल हैं, स्थिति की विधायक और नियंता बन जायें और अपने स्वार्थों के लिए देश की जनता को जो नाच चाहें नचायें, जैसे चाहें लड़ायें और अपना उल्लू सीधा करें, इसी ख़याल से मैंने वह बात कही थी। बात जनता की बागडोर अपने हाथ में लेने की है — कम से कम उस दिशा में काम करने की है, पहला सही क़दम उठाने की है, और ऐसे मामलों में सही क़दम का मतलब निष्पक्ष ईमानदारी का ही क़दम हो सकता है।

ख़ैर, यह तो सही-गलत जैसा भी है मेरा प्रस्तावित एक समाधान या उपचार है, मन्मथनाथजी के पास इसका क्या समाधान या उपचार है? रोग है, ऐसा वह भी मानते हैं, हम ऊपर देख चुके हैं, इसलिए उसका कोई झगड़ा नहीं है। तो पहला समाधान तो उनके पास यह है कि इसका कोई समाधान नहीं है, जब तक कि इस देश में समाजवाद कायम नहीं हो जाता, जो कि वही घोड़े के आगे गाड़ी जोतनेवाली बात है। और दूसरा समाधान उनके पास यह है कि 'धर्म के विरुद्ध प्रचार किया जाय।' जी हाँ, पूरी गम्भीरता के साथ, तात्कालिक कर्म के स्तर पर मन्मथनाथजी के पास इस समस्या का एकमात्र यही समाधान है! इस पिछड़े हुए, अशिक्षित, धर्मप्राण भारतवर्ष में! सो हिन्दू धर्म के विरुद्ध तो आप जितना मन चाहे प्रचार कर सकते हैं, मुसलमान धर्म के विरुद्ध आप कितना कर सकते हैं, और उससे शान्ति-भंग की कैसी अनिष्टकारी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, इसके कितने ही संकेत जब-तक मिलते रहे हैं! लेकिन उनकी चर्चा न भी करें तब भी यह एक बिलकुल पोच बात है, दिमागी ऐयाशी की बात, अन्धी गली में पहुँचकर, पस्तहिम्मत होकर, अनाप-शनाप कुछ भी कहकर बच निकलनेवाली एक बात जिसका कोई सर-पैर नहीं। रूस में, जिसका उन्होंने इस सिलसिले में हवाला दिया है, इन्क़लाब हुए पचास बरस से ऊपर हो गये, लेकिन आज भी वहाँ पर मसजिदें भी हैं और गिर्जाघर भी, और उनमें जानेवाले लोग भी! अच्छा हो कि वह एक बार फिर धर्म के सम्बन्ध में लेनिन के विचार पढ़ लें, जहाँ वह साफ-साफ शब्दों में ठीक इसी चीज की मनाही करता है और कहना चाहता है कि धर्म (अन्धविश्वासों और कर्मकाण्ड के अर्थ में) जब भी मरेगा तब अपनी मौत मरेगा, ज्ञान-विज्ञान का विकास होने पर, खुशहाली बढ़ने पर, भविष्य के सम्बन्ध में सुरक्षा का बोध होने पर — और उस पर सीधे हमला करना (जिसकी सलाह मन्मथनाथजी दे रहे हैं) दुश्मन के हाथ मजबूत करेगा और जनक्रान्ति की सम्भावनाओं को और भी दूर टेल देगा।

यह सब और कुछ नहीं, अकर्मण्यता की दलीलें हैं। गलत मतलब लगाये जाने की, अपव्याख्या की, दलील भी ऐसी ही चीज़ है। अपव्याख्या का डर किसी के लिए कोई अनजान डर नहीं है। जिस भी आदमी ने अपनी ज़िन्दगी में तीस-चालीस बरस कुछ काम करके, कुछ लिख-पढ़कर, थोड़ा-बहुत नाम कमाया है, सर्वसाधारण के सामने अपनी एक इमेज बनायी है, उसे अपव्याख्या से डर लगना स्वाभाविक है; लेकिन आवश्यकता पड़ने पर, किसी सन्दर्भ में, विषय के महत्व को देखकर, वही आदमी उसको जोखिम में भी डालता है, क्योंकि यही उसकी ईमानदारी का तक़ाजा होता है, और इसी के लिए थोड़े से नैतिक साहस की जरूरत पड़ती है, जो कि नामवरजी के लिए शायद बिलकुल बिरानी-अनपहचानी चीज है क्योंकि शायद उन्हें कभी इसकी ज़रूरत नहीं पड़ी।

लेकिन जोखिम के साथ-साथ इस चीज का एक धनपक्ष भी है। अपने भीतर की सच्चाई से बात कहने का आत्मिक सन्तोष तो है ही, जो कोई छोटी चीज नहीं है, अपने मन के भय-संशय भी कुछ कटते हैं, आगे का रास्ता थोड़ा-सा खुलता है, और विचारों की अपनी इस जोखिम-भरी यात्रा में कुछ समानधर्मा सहयात्री भी मिलते हैं। इस लेखमाला के संदर्भ में मेरा अनुभव तो कुछ इस प्रकार का है कि मेरे हिन्दू दोस्तों ने ही मेरी बात का गलत मतलब लगाया और किसी-किसी ने मेरी ईमानदारी पर भी सन्देह किया, मुसलमान दोस्तों ने नहीं। जभी तो मेरा वह लेख पढ़कर अहमद रशीद शेरवानी ने, जो एक बहुत जाने-माने मुसलमान हैं, सम्पादक 'मुक्तधारा' को लिखा :

'१७ अगस्त की मुक्तधारा में श्री अमृतराय का लेख पढ़ा। साम्प्रदायिकता के विषय में एकांगी दृष्टिकोण वाक़ई ख़तरनाक है। मुझे भी हैरत है कि वही असाम्प्रदायिक दल जो जनसंघ को बुरा कहते हैं, मुस्लिम लीग के साथ डंके की चोट गठजोड़ करते हैं। इसको न केवल बुरा नहीं कहा या समझा जाता बल्कि इसे अपनी सेक्यूलरता का सबूत बनाकर पेश किया जाता है। यानी जो हिन्दू व्यक्ति मुस्लिम साम्प्रदायिकता की गोद में जा बैठे, या उसे अपनी गोद में बिठा ले, वह शर्तिया सेक्यूलर हो जाय! कितनी लग्व बात है। यूँ तो जो मुसलमान जनसंघ से साज़-बाज़ कर ले उसे भी सेक्यूलर मान लेना चाहिए!

'अगर हमें साम्प्रदायिकता का मुक़ाबला ईमानदारी से और नैतिकता से करना है तो फिर इस साम्प्रदायिकता या उस साम्प्रदायिकता से नहीं, बल्कि साम्प्रदायिकता के हर रूप से लड़ना होगा। हमें मुस्लिम लीग और मजलिसे मुशावरत से भी उतनी ही नफ़रत करनी होगी जितनी जनसंघ और हिन्दू महासभा से।...

'साम्प्रदायिकता जब हमारे सामने आये हमें इस डाइन को पहचान लेना चाहिए, चाहे यह भगवा रंग का लिबास पहने हो या हरे रंग का। यह चाहे कितने ही चोले बदले लेकिन इसके मुँह से इंसानों के खून की जो बू आती है वह कहाँ छुपेगी ? मैं तो जमाअते इस्लामी के अमीर मौदूदी को गुरू मौदूदी और गोलवलकर साहब को आर. एस. एस. का अमीरे जमाअत कहता हूँ। ...'

उसी तरह, बम्बई के मेरे दोस्त एस० फ़ीरोज़ अशरफ़ ने (जिनकी मैंने शकल भी नहीं देखी) जिनका एक बहुत महत्वपूर्ण लेख, बहुत कुछ ऐसी ही समस्या पर 'धर्मयुग' में छपा था और जिसका मैंने अपने लेख में उल्लेख किया था, २३ अक्तूबर के अपने खत में मुझको लिखा :

'इसी बीच आपका लेख भी मैंने पढ़ा। ज़ाहिर है, आपके विचारों से सहमत न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। मुझे इस पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ कि आपके कुछ दोस्तों ने आपको ग़लत समझा। मुझे स्वयं अपने लेख के बाद क्या-क्या न कहा गया। अभी तक वह सब बकवास जारी है। और दिक़्क़त तो यह है कि सच्चाई से मुँह भी नहीं मोड़ा जा सकता। मैंने भी काफी सोच-समझकर ही क़लम उठाया है। ... आपका यह लिखना 'तो हमारा रवैया इस सवाल पर यही हो सकता है ...' सौ फी सदी दुरुस्त है। ईमानदारी का तकाजा यह था कि मुस्लिम कौम से सम्बन्धित 'प्रगतिशील' लोग इस प्रश्न को भी उठाते। मगर वह तो स्वयं भूल-भुलैयों में गुम हैं। कहना न होगा 'तरक़्क़ी-पसन्दों' की इस भीड़ ने अब तक हमारे अवाम को किस प्रकार गुमराह किया है। मुझे तसवीर के दूसरे रुख से इन्कार नहीं है, पर मुस्लिम लीडरशिप कभी खुलकर भी तो सामने आये। अब तक ऐसा नहीं हुआ है। यह भी प्रगतिशील ताकतों का काम था। मगर हमारी 'भारतीय प्रगतिशीलता' तो स्वयं भटकती रही है, और जो स्वयं भटक रहा हो वह दूसरों को क्या राह दिखायेगा ? अन्तिम पैरे में भी आपने बड़ी जुर्रत से काम लिया है। बहुत ही अच्छे ढंग से आपने उल्टे मुँह की साम्प्रदायिकता की बात कही है।'

छोड़िए, आइए अब नामवरजी को देखें। नामवरजी का लेख अपने आप में एक चमत्कार है। एक नहीं, अनेक दृष्टियों से। एक जगह पर इतनी खूबियाँ कम देखने को मिलती हैं। सबसे पहले तो योगी नटराज का सा अणिमा-लघिमा सिद्धियों का उसका चमत्कार — कहीं भी कुछ भी ठोस नहीं है जो किसी की पकड़ में आ सके, कहीं पकड़ नहीं है ! और जहाँ कभी कुछ लगा भी कि पकड़ में आ रहा है तो अगले ही क्षण देखा कि फिर कहीं कुछ नहीं है, और आप हवा से बातें कर रहे हैं, पहलवान पेंच छुड़ाकर अलग खड़ा है ! आप फिर

लपककर उसे पकड़ लेने को होते हैं और वह फिर निबुककर निकल जाता है। जितना मन चाहे दौड़िए उसके पीछे, वह गोल-गोल अखाड़े का चक्कर काटता रहेगा, पंजा नहीं मिलायेगा किसी तरह। योगी, नट-विद्याविशारद और पहलवान की यह त्रिगुण सिद्धि कोई मामूली चीज नहीं है। ताहम इतने पर ही बस नहीं है। इसके साथ में है फेकैत लाठी भाँजनेवाले या पटा-बनेठी लड़नेवाले की कला का चमत्कार — कि हवा में लाठी चलती रहे, कहीं और कुछ दिखायी न पड़े, बस खटखट की आवाज सुनायी पड़े, और अपना पहलू बचाते हुए दुश्मन को ऐंड़ी-बैंड़ी चोट मार दी जाये! यह भी कोई मामूली हुनर नहीं है। लेकिन मजा यह है कि इतने पर भी बस नहीं है। इसके साथ ही हाशिया-आराई का इसका चमत्कार भी देखने से ताल्लुक रखता है। हाशियाआराई यानी हाशिये की सजावट, यह एक ललित कला है, जिसका एक से एक सुंदर उदाहरण इस लेख में देखने को मिलता है। प्रतिपक्षी की बात को संदर्भ से काट कर, तोड़-मरोड़कर, पेश करना, उसमें अपनी तरफ से हाशिया लगाना, इशारे पैदा करना, शब्दों से नयी-नयी मीड़ें निकालना — यह सब मामूली काम नहीं है, और बड़े लंबे अभ्यास से आता है। खुशी होती है कि नामवरजी ने अपने अध्यवसाय से इतने थोड़े वर्षों में ही इस विशेष आलोचना-शैली में ऐसी असा-धारण योग्यता प्राप्त कर ली है। यह और बात है कि इसमें किसी के साथ अन्याय होता हो या कि बातचीत का वह मूल सूत्र ही खो जाय जिससे कि बात शुरू हुई थी। यह सब छोटी बातें हैं। असल बात है, सामनेवाले को नीचे गिराना — जिस भी ढंग से हो, जिस भी तदबीर से हो, लड़ाई और इश्क में सब कुछ रवा है।

लेकिन इसमें एक मुशकिल है, बस एक — ये तदबीरें उसके साथ ज्यादा काम करती हैं जो खुद भी इनका सहारा लेता हो। साफ़-बेलाग बात कहनेवाले के साथ ये लटके बहुत देर नहीं चल पाते। मिसाल के लिए नामवरजी ने (और परसाईजी ने भी) इस बात का बड़ा तूमार बाँधा है कि 'पांचजन्य' ने मेरे लेख का कुछ अंश अपने यहाँ उद्धृत किया है। दुर्भाग्यवश वह अब तक मेरे देखने में नहीं आया है और मैं नहीं जानता कि उन्होंने कौन सा अंश चुनकर छापा है। लेकिन निश्चय ही उन्होंने ऐसा कुछ छापा होगा जो कि उन्हें उपयोगी लगा होगा। लेकिन यहाँ पर दो बातें देखने की हैं — एक तो यह कि ऐसा कोई लेख नहीं हो सकता जिसमें से अपने मतलब का कुछ अंश न निकाला जा सके। (आप मेरे कट्टर से कट्टर दुश्मन का लेख, मेरे ही बारे में लेकर आइए, मैं उसमें से अपने काम का, एक न एक टुकड़ा जरूर निकाल लूँगा।) सोचने की

बात है, नामवरजी, अगर आप मेरी बातों को संदर्भ से काटकर इस तरह पेश कर सकते हैं कि अर्थ का अनर्थ हो जाय तो 'पांचजन्य' के संपादक क्यों नहीं कर सकते ? दूसरी बात देखने की यह है कि यह लेख पूरे का पूरा 'पांचजन्य' में नहीं छपा, 'मुक्तधारा' में छापा । लिफ़ाफ़े पर उनका पता लिखने की ही तो बात थी, फिर वह 'पांचजन्य' में क्यों नहीं छपा ? इसलिए कि एक तो मैंने लेख उन्हें भेजा नहीं और दूसरे इसलिए कि अगर भेजता भी तो वे पूरे का पूरा उसे छाप नहीं सकते थे । वे बातें खास तौर पर 'मुक्तधारा' के पाठकों से ही मुझे कहनी थीं इसलिए लेख 'मुक्तधारा' में छपा । वैसे मैं इतना और कह दूँ कि मुझे 'पांचजन्य' से या दूसरे किसी भी दल के किसी भी अखबार से, जिसे मेरे देशवासी पढ़ते हैं, परहेज नहीं है । और अगर किसी दिन 'पांचजन्य' को भी यह हौसला हो कि वह मेरा लेख छाप सकता है, और मुझे इस बात का पूरा भरोसा हो कि उसमें काट-छाँट नहीं होगी, लेख को तोड़ा-मरोड़ा नहीं जायेगा, पाँच सौ संपादकीय फुटनोट लगाकर लेख की शक्ल कुछ की कुछ न कर दी जायेगी (जो कि पत्रकारिता के बहुत जाने-माने लटके हैं) तो मैं उसमें लिखने का हौसला रखता हूँ । दूसरे को मेरे छूत का डर हो तो हो, मुझे अब इस उम्र में आकर किसी छूत का डर नहीं है। शर्त एक ही है कि लेख पूरा छपे और ढंग से, जो कि शायद उनके लिए आसान न होगा, टुकड़े छापने में कौन सी बहादुरी है । और उस बात को नामवरजी इतनी बड़ी दलील बना कर पेश कर रहे हैं ! क्या उन्हें पता नहीं है कि उनकी सी बातों के टुकड़े मुस्लिम सांप्रदायिक पत्रों में किस तरह हाशिया लगाकर छापे जाते हैं ? तो क्या मैं इस बात को उनके ख़िलाफ़ एक दलील की तरह इस्तेमाल करूँ ? जी नहीं, ऐसी दलीलें नामवरजी को ही ज़ेब देती हैं ।

मैंने अपने लेख में हमीद दलवाई और फ़ीरोज़ अशरफ़ के लेखों का हवाला दिया था। उस पर नामवरजी ने यह हाशिया लगाया कि मैं उन्हें इस बात की 'नज़ीर के रूप' में पेश कर रहा हूँ कि 'देखा, खुद मुसलमान कबूल कर रहे हैं कि मुसलमानों में साम्प्रदायिकता बढ़ रही है।' और बड़े तेवर के साथ मुझसे पूछते हैं — 'उससे यह नतीजा क्यों नहीं निकाला जाता कि मुस्लिम सांप्रदायिकता के विरुद्ध स्वयं मुस्लिम समाज में भी संघर्ष चल रहा है ?' उत्तर में निवेदन है कि उनके लेखों का हवाला मुसलमानों के खिलाफ़ फ़र्दे जुर्म तैयार करने के लिए नहीं दिया गया था बल्कि अपनी उस पूरी बात के समर्थन में दिया गया था जो कि इन दोनों बातों के मेल से बनती है, और यह नामवरजी की खास तौर पर टेढ़ी समझ है जो इन्हें इस तरह से काटकर इस तिरछे अंदाज में पेश

करती है। मुझे खुशी है कि मैं अपने इस लेख में ही फ़ीरोज़ अशरफ़ की वह चिट्ठी दे सका जो कि उन्होंने मेरा लेख पढ़कर लिखी है और जिससे साफ़ है कि उनके लेख के 'सदुपयोग' का जितना दर्द नामवरजी को है उतना खुद फ़ीरोज़ अशरफ़ को नहीं है, बल्कि उन्हें खुशी है और मेरे बारे में कोई ग़लत-फ़हमी नहीं है और शायद इसीलिए नहीं है कि वह भी मेरी ही तरह मानते हैं कि दोनों ओर की सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ लड़ाई एक है और अविभाज्य है, और इसे दोनों मोर्चों पर एक साथ पूरी दयानतदारी से लड़कर ही इस विगड़ती हुई फ़िज़ा को सँभाला जा सकता है — जिसका मतलब है कि जिस तरह हिंदू सांप्रदायिकता को प्रश्रय देना ग़लत है उसी तरह, किसी भी नाम पर, मुस्लिम सांप्रदायिकता को प्रश्रय देना ग़लत है (यहाँ पर यह भी याद रखना उपयोगी होगा कि मुसलमानों की हिमायत और मुस्लिम फ़िरक़ापरस्ती की हिमायत एक ही चीज़ नहीं है।) क्योंकि इससे एक तरफ हिन्दू सांप्रदायिकता को और फैलने के लिए जमीन मिलती है और दूसरी तरफ मुस्लिम सांप्रदायिक तत्वों को शह मिलती है और हमीद दलवाई और फ़ीरोज़ अशरफ़ जैसे न जाने कितने ही सच्चे देशप्रेमी, राष्ट्रवादी मुसलमानों के हाथ कमजोर होते हैं जो अपने समाज में उन्हीं साम्प्रदायिक तत्वों के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। यह कुछ इतनी मुशकिल बात तो है नहीं कि नामवरजी की समझ में न आती मगर जैसा कहते हैं, सोते को जगाना आसान है, जागते को जगाना मुशकिल।

हिंदू सांप्रदायिकता से लड़ने की मुख्य जिम्मेदारी प्रबुद्ध हिन्दुओं पर और मुस्लिम सांप्रदायिकता से लड़ने की मुख्य जिम्मेदारी प्रवुद्ध मुसलमानों पर रखने की मेरी बात पर भी नामवरजी को आपत्ति है। बलिहारी है, और क्या कहूँ। इतनी साफ और सीधी-सी बात है। इससे काम में आसानी होगी, वदगुमानियों और ग़लतफ़हमियों के लिए कम गुंजाइश रहेगी, बात करने के लिए ज्यादा हमवार जमीन मिलेगी, संप्रेषण ज्यादा सीधा हो सकेगा। लेकिन कोई अगर अपनी अकल का दरवाज़ा ही बंद कर ले तो सरा आदमी बात समझाये भी कैसे ?

प्रेमचंद का नाम भी इस सिलसिले में नामवरजी ने इधर कई बार लिया है। मैं भी जानता हूँ कि प्रेमचंद कौन था और उसने क्या लिखा है। मुझे बताने की जरूरत नहीं है कि वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी थे। मैंने भी यह बात बहुत बार लिखी है और आगे भी लिखूँगा। 'कलम का सिपाही' में तो इसका खूब ही विस्तृत विवेचन है, शायद नामवरजी ने भी पढ़ा होगा। लेकिन

जिस तरह उन्होंने मेरी बात के जवाब में प्रेमचंद को मेरे मुँह पर फेंककर मारने की कोशिश की है, वह न तो मेरे साथ इंसाफ है और न उस गरीब प्रेमचंद के साथ — कम से कम नीचे की इन चिट्ठियों की रोशनी में, जिनसे और कुछ पता चलता हो या नहीं यह तो पता चलता ही है कि जिस मुस्लिम सांप्रदायिकता और अलगावपंथी ज़ेहनियत के खिलाफ लड़ने पर मैंने ज़ोर दिया है उसका इतिहास कितना पुराना है और अगर वह प्रेमचंद को भी नहीं बख्श सका जो उर्दू के इतने जाने-माने और इतने अपने लेखक थे और उसके ज़ख्म से खुद प्रेमचंद भी इस कदर तिलमिला गये तो हम-आप यानी देश के साधारण जन किस गिनती में हैं ?

ऐसे प्रकरण, मेरे देखने में, तीन हैं। एक तो उनका वह अनुभव, जो निश्चय ही कुछ लंबा और तल्ख रहा होगा, जिसने उन्हें पंद्रह-बीस बरस उर्दू में लिखने के बाद हिन्दी की ओर आने को प्रेरित किया और जिसका संकेत उनके १ सितम्बर १९१५ के पत्र में मिलता है — 'अब हिन्दी लिखने की मश्क़ भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुज़र नहीं है। यह मालूम होता है कि बाल-मुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में ज़िन्दगी सर्फ़ कर दूँगा। उर्दूनवीसी में किस हिन्दू को फ़ैज़ हुआ जो मुझे हो जायेगा।'

दूसरा अनुभव वह है, जब कि उनके 'कर्बला' नाटक को लेकर बड़ा वावेला मचा, और २२ जुलाई १९२४ को प्रेमचंद ने 'ज़माना' के एडीटर निगम साहब को लिखा 'बेहतर है कि कर्बला न निकालिए। मेरा भी कोई नुक़सान नहीं है। न मैं मुफ़्त का खिलजान सर पर लेने को तैयार हूँ। मैंने हज़रत हुसेन का हाल पढ़ा। उनसे अक़ीदत हुई। उनके ज़ौक़े-शहादत ने मफ़्तूँ कर लिया। उसका नतीजा यह ड्रामा था। अगर मुसलमानों को यह भी मंज़ूर नहीं है कि किसी हिन्दू की ज़बान-ओ-क़लम से उनके किसी मज़हबी पेशवा या इमाम की मद्‌ह-सराई भी हो तो मैं इसके लिए मुसिर नहीं हूँ ...'

तीसरा अनुभव उनकी जिंदगी के आखिरी दिनों का है जब कि 'हिन्दुस्तानी' के आंदोलन को लेकर मौलवी अब्दुल हक़ से उनकी बेलुत्फी हुई, और झड़प हुई, जिसकी पूरी कहानी भी नामवरजी को प्रेमचंद की जीवनी में मिल जायेगी जिसे मैं स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दे पा रहा हूँ। फिर भी ये कुछ हवाले मुझको देने ही पड़े, यह दिखाने के लिए कि बात उतनी सीधी और आसान और इकहरी नहीं है जितनी कि नामवरजी उसको बनाकर पेश करना चाहते हैं। इसके विपरीत वह काफी जटिल है और उसमें अनेक कोण हैं, और उसके इन कोणों को मारकर प्रेमचंद को मेरी बात के जवाब में सनद की तरह

पेश करना ईमानदारी नहीं है — खुसूसन् जब कि मेरी बात भी प्रश्न की इसी जटिलता और इन्हीं कोणों को रेखांकित करती है। मगर यह भी कैसी दकिया-नूस बात है। ईमानदारी-बेईमानी से क्या लेना-देना है, दुश्मन को चित करना है — जिस भी दाँव से हो, और फिर आजकल की फ्रीस्टाइल कुश्ती में तो और भी सब तरह की छूट है, हाथ मरोड़ दीजिए, पैर तोड़ दीजिए, दाँत गड़ा दीजिए, आँख फोड़ दीजिए, यानी जो मन चाहे कीजिए, दुश्मन को शिकस्त होनी चाहिए !

लिहाजा नामवरजी ने भी अगर मुझ पर कुछ व्यक्तिगत तरह की चोटें करना जरूरी समझा तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। सीधी-साफ बात-चीत में कोनिया दिये जाने पर गाली-गुफ्ते के सिवा कोई और सहारा भी तो नहीं बचता। (इसलिए इसमें बुरा मानने या गुस्सा करने की कोई बात नहीं है। लेकिन थोड़ा सा तरस तो आता ही है कि एक खासे पढ़े-लिखे आदमी को — जो कितनी ही बार मेरे घर आ चुका है, मुझे और मेरे परिवार को और हमारे सामाजिक आचार-विचार को अच्छी तरह जानता है, और जो सामना होने पर हमेशा विनय की मूर्ति बनकर मुझसे बातें करता है — इस तरह के ओछे हथ-कंडों पर उतरना पड़े। उनके लिए शायद इसमें कुछ नया नहीं है।) साहित्यिक आलोचना के स्तर पर उन्हें इसका अच्छा अभ्यास रहा है, लेकिन तब भी आदमी सोचता ही है कि यह बात करने का कोई ढंग नहीं है, सुथरे विवाद का भी अपना शील, अपनी मर्यादा होती है। नामवरजी का कहना है कि मेरे बद्ध-मूल संस्कार सवर्ण हिन्दू के हैं, कि मैं ऐसा हिन्दू हूँ जिस पर हजारों हिन्दू सभा निछावर हैं, कि मेरी सांप्रदायिकता 'पांचजन्य' से भी दो जूती आगे है।

मैं क्या हूँ और क्या नहीं हूँ, इसे मुझसे बेहतर मेरे पाठक जानते हैं, जिनकी संख्या कम नहीं है। तीस बरस मैंने भाड़ नहीं झोंकी है। इसलिए जहाँ मैंने बहस को गुमराह करनेवाली उनकी हर बात का जवाब दिया है, खास अपने बारे में कही गयी इन बातों का कोई जवाब नहीं दूँगा, क्योंकि मैं समझता हूँ कि जिस दिन मुझे इन टुच्ची बातों का जवाब देने की जरूरत पड़ेगी वह मेरे लिए संखिया खाकर सो रहने का दिन होगा। बस इतना कहूँगा कि अगर नामवरजी ने ये बातें मुझे ब्लैकमेल करके चुप कर देने के लिए कही हैं तो उन्हें मालूम होना चाहिए कि दुनिया में सब आदमी ऐसी कच्ची धात के नहीं होते — (और अगर लोगों के सामने मेरी इमेज ख़राब करने की ग़रज़ से कही हैं तो उसका भी जवाब उन्हें आनेवाले वक्त में औरों से मिल जायेगा, और तब मुमकिन है वह यकबयक जागकर यह देखें कि मेरी इमेज तो जैसी भी है अपनी

जगह पर बदस्तूर क़ायम है, खुद वही औंधे मुँह गिरे पड़े हैं।) लेकिन फिल-हाल उनके काम को आसान करने के ख़याल से मैं फिर अपनी उसी बात को दुहराना चाहता हूँ, जिसे संदर्भ से काटकर उन्होंने ये मतलब पहनाये और ये हाशिये लगाये हैं — कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर विचार करते समय मुस्लिम समाज की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को यह कहकर आँख की ओट कर देना कि वे अल्पसंख्यक हैं अपने गलत तर्क की सुविधा के लिए जुटाया गया एक घातक प्रकार का अतिसरलीकरण है; ऐसे बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों की प्रवृत्तियों का प्रभाव पूरे समाज पर पड़े बिना नहीं रह सकता, इसलिए उन्हें नजर की ओट नहीं किया जा सकता और पूरे समाज को एक स्वस्थ दिशा देने के लिए उनके ख़िलाफ़ संघर्ष करना भी उतना ही ज़रूरी है, और यही मैंने कहा था और फिर कहता हूँ।

हाँ, नामवरजी, इसके लिए भी साहस की जरूरत पड़ती है, वह साहस नहीं जिसका संकेत आपके इस कथन से है, 'भारत में रहते हुए किसी हिन्दू के लिए मुस्लिम सांप्रदायिकता पर चोट करने में भी किसी साहस की ज़रूरत है?' एक दूसरे तरह का साहस — कमिटमेंट की बड़ी-बड़ी बातें करते हुए अपने आच-रण में बराबर यत्नपूर्वक हर कमिटमेंट से बचकर दुरंगी खेलनेवाले गोटीबाज़ों के मुँह से स्वस्थ देशप्रेम और धर्मनिरपेक्षता की सिखवन सुनने का साहस! यह मामूली साहस का काम नहीं है, नामवरजी। मुझे तो वह दिन याद आ रहा है जब कि पहली बार मुझे आपसे मिलने का सौभाग्य हुआ था। काफ़ी पुरानी बात हुई। तब आप काशी के उदयप्रताप क्षत्रिय कालेज में दसवीं जमात में पढ़ते थे और मैं आपके एक गुरुदेव (शायद मोती सिंह नाम था, ठीक याद नहीं) को कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्य पहुँचाया करता था, पार्टी का चंदा वसूल करता था। उन्होंने, आपको याद होगा, आपको मुझसे मिलाया था। लेकिन जो बात आपको न याद होगी, क्योंकि तब किसी भी राजनीति से आपका कोई संबंध न था, वह यह है कि तब पचीस बरस पहले मैं भी, पार्टी की नीति के अनुसार, इसी तरह सीना ठोंककर पाकिस्तान की माँग का समर्थन करता था — और बाद को पता चला कि वह नीति ग़लत थी। निष्कर्ष : सीना ठोंकने से ही, या दूसरों पर कीचड़ उछालने से ही, गलत बात सही नहीं हो जाती। और समझदार लोग पुरानी ग़लतियों से सबक लेने की कोशिश करते हैं और मैंने अपने लेख में इसी चीज़ का एक इशारा किया था, और एक खास हल्के में ग़लत समझे जाने का डर तो था ही, वह सामने भी आया, लेकिन यह तो वक्त बतायेगा कि कौन सही था। और कुछ तो अब भी बता रहा है, आप देखें या न देखें, सुनें या न सुनें। दोनों

तरफ़ सांप्रदायिक शक्तियाँ बराबर ज़ोर पकड़ती जा रही हैं। मेरी मान्यता है कि हिन्दू सांप्रदायिकता के बढ़ने के पीछे एक बड़ा कारण मुस्लिम सांप्रदायिकता का बढ़ना है — उसी तरह जैसे मुस्लिम सांप्रदायिकता के बढ़ने के पीछे एक बड़ा कारण हिन्दू सांप्रदायिकता का बढ़ना है। यही पूरी बात है। दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। इसी तरह उसको देखना चाहिए। पूरी बात को आधे में काटने से, जैसा नामवरजी ने किया है, वही अर्द्ध-सत्य हाथ लगेगा, जो कि झूठ का दूसरा नाम है। उसे मेरे गले मढ़ने की कोशिश बेकार है। इसी सिल-सिले की एक और बात, जिसे नामवरजी ने अपने ढंग का जामा पहनाया है, सांप्रदायिकता बढ़ने की प्रक्रिया के प्रथम कारण को लेकर है। प्रथम कारण का निर्णय कभी सरल नहीं होता। जिसका मतलब यह नहीं है कि दंगों के कारणों की जाँच नहीं होनी चाहिए। होनी चाहिए और ख़ूब अच्छी तरह होनी चाहिए, और अपराधी को कड़े-से-कड़ा दंड मिलना चाहिए। लेकिन जो नहीं होना चाहिए वह यह कि इस प्रथम कारण की अनुसंधित्सा को वर्तमान संदर्भ में अकर्मण्यता की दलील बना दिया जाय। मेरा विरोध उस चीज़ से है, और उसी पर मैंने चोट की है, और उसी को कुछ दोस्तों ने तोड़-मरोड़कर बात को सही रास्ते से भटकाना चाहा है। समय किसी के लिए नहीं रुकता, इसीलिए यह कहना ज़रूरी हो जाता है कि अपना कदम उठाने के लिए प्रथम कारण के अंतिम निर्णय तक रुकना ज़रूरी नहीं है। वक़्त की माँग है कि अगर यह बात सही है कि दोनों ओर सांप्रदायिक शक्तियाँ तेजी से बढ़ रही हैं — जिसके बारे में शायद मेरे इन बंधुओं को भी संदेह नहीं है — तो इसी दम इस दोमुँहे दानव से लड़ने का उपाय शुरू करना चाहिए, उसी तरह जैसे डाक्टर रोग के प्रथम कारण की जिज्ञासा मन में लेकर उसे शुभ दिन के लिए बैठा नहीं रहता जब कि उसे अपनी इस जिज्ञासा का उत्तर मिल जायेगा, बल्कि प्रस्तुत क्षण में, तत्काल, रोगी का इलाज शुरू कर देता है।

नामवरजी की हाशियाआराई के चमत्कार के बाद आइए अब परसाईजी की सादगी का चमत्कार देखिए। सबसे पहले तो वह बहस को दूसरी ही तरफ़ खींच ले गये हैं और कहते हैं कि इन दंगों को साम्प्रदायिक दंगा कहना ही ग़लत है, यह फ़ाशिज़्म है। कारण? उनके पीछे एक पैटर्न दिखायी पड़ता है। क्या ख़ूब कारण है! कि जैसे पैटर्न का होना फ़ाशिज़्म की कोई ख़ास अलामत हो। पैटर्न तो दुनिया की हर चीज में होता है — यहाँ तक कि आज़ादी के पहले के दंगों में भी एक पैटर्न था। दंगे आरती-नमाज़ को लेकर होते थे या गोकुशी को लेकर होते थे। कहीं बाजा बजाने पर होते थे, कहीं होली-बक़रीद साथ पड़ जाने

पर होते थे, कहीं दशहरे या मुहर्रम के जुलूस के रास्ते को लेकर होते थे, कहीं मंदिर या मस्जिद को तोड़ने या भ्रष्ट करने पर होते थे, कहीं एक धर्म की औरत और दूसरे धर्म के आदमी के सम्बन्ध को लेकर होते थे, कहीं होली का रंग पड़ जाने पर होते थे। कैसे कहा जाय कि पहले उनका कोई पैटर्न नहीं था। और दंगा जब एक बार शुरू हो जाता था, तब तैयारियाँ भी दोनों तरफ़ से इसी तरह होती थीं, अफ़वाहें भी इसी तरह फैलती थीं, अल्लाहो अकबर और हर-हर महादेव के नारों के बीच रतजगे भी इसी तरह होते थे। इधर उसमें कोई बड़ा अंतर आया हो, ऐसा नहीं दिखायी पड़ता — इसके सिवा कि हिन्दू साम्प्रदायिकता भी आज पहले से ज्यादा संगठित है। यह एक महत्वपूर्ण अंतर है लेकिन इससे स्थिति में कोई गुणात्मक अंतर आ जाता हो, ऐसा एकाएक मुझे नहीं लगता। हो सकता है कि ये सारी चीज़ें फ़ाशिज़्म की तरफ ही बढ़ रही हों लेकिन उसका जो प्रमाण परसाईजी ने दिया है वह बहुत नाकाफी है। जहाँ तक मुझे दिखायी पड़ता है, देश निश्चय ही किसी अत्यन्त भयंकर स्थिति की ओर बढ़ रहा है, और शायद इसमें दो मत नहीं हो सकते। लेकिन वह चीज क्या होगी, यह कहना कठिन है। फ़ौजी तानाशाही होगी या फ़ाशिज़्म होगा या जाति और धर्म और भाषा और उत्तर-दक्षिण को लेकर गृहयुद्ध होगा, मैं नहीं जानता। फ़ाशिज़्म होगा तो उसका माध्यम या वाहन कौन सा दल होगा, कांग्रेस या जनसंघ या स्वतंत्र पार्टी या कि तीनों का त्रिगुट या कोई और ही पार्टी, यह भी मैं नहीं जानता। इसीलिए कि मैंने फ़ाशिज़्म का, और विशेष रूप से वर्तमान संदर्भ में इस देश में फ़ाशिज़्म के जन्म का, विधिवत् अध्ययन नहीं किया है। फ़ाशिज़्म का मेरा समस्त ज्ञान रजनी पाम-दत्त की पुस्तक पर अवलंबित है। और उसके आधार पर इतना तो मुझे लगता ही है कि सामाजिक स्थितियाँ उसके लिए बहुत हद तक तैयार हैं। इजारेदार पूँजीपतियों के हाथ में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण; दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों के माध्यम से उनके ही द्वारा देश की राजनीति का सूत्र-संचालन; वामपक्षी दलों का (जिनमें अपने तीन-चार टुकड़ों समेत कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल है) अनैक्य और दुर्बलता; आज की तेज़ी से बढ़ती हुई बेरोज़गारी और भुखमरी और ढेरों ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर केवल सामाजिक जनक्रांति दे सकती है; चीन के आगे पराजय और उससे उत्पन्न हीनता की एक मनोग्रंथि; समाज के भीतर एक विशाल 'लुम्पेन' वर्ग का उदय जिसे कोई भी चतुर डेमागॉग खाना-कपड़ा-नौकरी-लूटपाट का लालच देकर किसी भी ऐडवेंचर में अपने साथ खींच ले सकता है — और इसी तरह की और भी कुछ बातें जो ठीक उस संधि-क्षण और उस संधि-स्थल की सूचना देती हैं

जब और जहाँ देश उस दोराहे पर खड़ा होता है जहाँ से एक रास्ता फ़ाशिज़्म की ओर जाता है और दूसरा रास्ता जनक्रांति की ओर जाता है।

इसलिए आइए अब इस बहस को और तूल न देकर बहस के लिए इस बात को मान लें कि जो चीज़ हम अपने सामने देख रहे हैं वह और कुछ नहीं फ़ाशिज़्म है। लेकिन ऐसा करते ही परसाईजी के चिन्तन का अधकचरापन और भी उजागर हो जाता है। जिस चीज़ का हम मुकाबला कर रहे हैं वह अगर फ़ाशिज़्म है, उसी के पहले क़दम हैं, तब तो और भी ज़रूरी है कि हमारे राजनीतिक कार्य का, प्रचार का, संपर्क का क्षेत्र और भी व्यापक हो, हमारी बातें ऐसी हों जो ज्यादा से ज्यादा साफ-सुथरे आदमियों को अपनी ओर खींच सकें ताकि उस फ़ाशिज़्म का सामाजिक आधार और छोटा किया जा सके, छोटे से छोटा किया जा सके; उसके वैचारिक आधार की ज़मीन काटी जा सके; जनसाधारण को अपनी ओर खींचने और अपनी सेना में भर्ती करने के लिए वह प्रचार की जब जैसी लाइन लेता हो, जो-जो नारे उसके यहाँ से उठते हों जिनका काम जनता को बरग़लाना है, उनकी हमें गहरी जानकारी हो और हम उसकी काट कर सकें और जनता के उसी स्तर पर जाकर उनकी काट कर सकें। उसका मुकाबला अपने में सिमटी हुई इस वामपंथी संकीर्णता के स्तर पर नहीं किया जा सकता। इस सिलसिले में परसाई जी को दिमित्रोफ़ की वह किताब पढ़नी चाहिए, अगर उन्होंने अब तक नहीं पढ़ी है, जिसमें दिमित्रोफ़ ने फ़ाशिज़्म से लड़ने की रणनीति का ख़ाका दिया है। उसको देखने पर उन्हें पता चलेगा कि दिमित्रोफ़ ने कम्युनिस्टों को हिटलर यूथ और उसी तरह के ढेरों अन्य युवक-संगठनों, व्यायामशालाओं आदि, जहाँ-जहाँ से हिटलर अपने जवानों की भर्ती करता था, के भीतर घुमकर काम करने के लिए कहा है, यानी उन्हीं के स्तर पर और उनके मन में बोये गये जहर के बीजों की काट करते हुए — सिर्फ़ इन्क़लाबी लफ़्फ़ाज़ी करके नहीं और न ऐसी संकीर्ण और आत्मघाती समझ और वैचारिक असहिष्णुता लेकर जिसका परिचय इन प्रतिक्रियाओं से मिलता है।

परसाईजी ने मेरे ऊपर 'अतिसरलीकरण' का दोष रखा है मगर सच्चाई इसकी उल्टी है। मैंने तो एक अत्यंत जटिल परिस्थिति में, उसके भीतर पैठकर, यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर और उसकी जटिलता को समझकर, एक ही समस्या पर दो तरफ़ से आक्रमण करने की बात कही है, परसाईजी ने वस्तुत: उस अतिसरलीकरण का सहारा लिया है जिसके लिए वह मुझे दोषी ठहराते हैं। सबसे पहला अतिसरलीकरण तो यही है कि वह इन दंगों को 'फ़ाशिज़्म' का नाम देकर छुट्टी पा गये। उन्होंने बिलकुल ठीक कहा है कि

'अतिसरलीकरण का अपना सुख है, अपनी आश्वस्ति है।' जभी तो इस चीज़ को सही-ग़लत बस एक नाम देकर उन्होंने अपना संतोष और समाधान पा लिया। असल सवाल एक जीवंत स्थिति का सामना करने का है जिसमें दो संप्रदायों के लोग एक दूसरे को मार-काट रहे हैं, आप उसे फ़ाशिज़्म का नाम दीजिए या कोई और नाम दीजिए, उससे बहुत फ़र्क़ नहीं पड़ता। सांप्रदायिक दंगा सबसे पहले सांप्रदायिक दंगा है, उसे करवानेवाला चाहे फ़ाशिज़्म हो चाहे ब्रिटिश साम्राज्यवाद, चाहे सी० आई० ए० और चाहे कोई और एजेंसी। अगर यह फ़ाशिज़्म भी है तो हर-हर दिशा और क्षेत्र में फैली हुई उसकी अलग-अलग टाँगों को काटकर ही आप उसे मार सकेंगे, केवल एक नाम देकर उसे जपते रहने से नहीं। तो पहला अतिसरलीकरण तो यह है। दूसरा अतिसरलीकरण यह है — 'करोड़ों आदमी सालों तक चौबीसों घंटे इस भय की छाया में रहें कि पता नहीं कब जान चली जाय ...' ऐसी स्थिति होने पर लोग, पाकिस्तान के हिन्दुओं की तरह, लाखों की तादाद में अपना घर-बार छोड़कर भागते हैं, ऐसी तो कोई बात यहाँ नहीं दिखायी पड़ती। और न ख़ास दंगों के वक़्त को छोड़कर, जब क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सब समान रूप से आतंकित रहते हैं, मुसलमानों के भीतर उस प्रकार का कोई आतंक मुझे दिखायी पड़ता है।

उनका तीसरा अतिसरलीकरण वह है जब कि वह यह कहने के बाद — 'मैं जानता हूँ कि मुस्लिम सांप्रदायिकता के मुखपत्र भी ज़हर उगलते हैं (आप खुद ही सोचिए 'करोड़ों आदमी सालों तक चौबीसों घंटे' प्राण-भय से काँपते बैठे हों तो क्या वे ऐसा कर सकते हैं? — अ० रा०) यह भी कि मुसलमान दूध का धोया नहीं है, यह भी कि मुस्लिम सांप्रदादिकता और उस क़ौम (संप्रदाय नहीं क़ौम, जो नेशन का पर्यायवाची है और जिन्ना की टू नेशन थ्योरी की याद दिलाता है।) के एक हिस्से में पनपनेवाली फ़ासिस्टी जमातें भी बहुत खतरनाक हैं ...' परसाईजी कहते हैं, 'मगर हिन्दू फ़ासिस्टी सांप्रदायिकता आक्रामक है, मुस्लिम सांप्रदायिकता आत्मरक्षात्मक।' अगर मैं आपकी बात मान भी लूँ तो सवाल पैदा होता है कि क्या वह 'आत्मरक्षात्मक' सांप्रदायिकता इतनी उपेक्षणीय है कि उसका समाधान बस यह विशेषण दे देने से ही हो जाता है? और अगर ऐसी बात नहीं है तो निश्चय ही उस ओर भी कुछ करना होगा। क्या करना होगा, इसका कोई भी संकेत परसाईजी नहीं देते। क्या यह समस्या का वही अतिसरलीकरण नहीं है?

निस्संदेह, परसाईजी, 'अतिसरलीकरण का अपना सुख है, अपनी आश्वस्ति है' लेकिन फिर यह भी समझ लेना चाहिए कि देश को 'फ़ासिस्टों के चंगुल में'

जाने से बचाने का ढंग यह नहीं है। वह समस्या की गहराई और नानाविध जटिलता के भीतर पैठने की ज्यादा सूझबूझ, ज्यादा निर्भीक और बेलाग चिंतन, ज्यादा धैर्य और सहिष्णुता की माँग करता है।

गिरीश माथुर के लेख की सबसे बड़ी अच्छाई इस बात में है कि उन्होंने सवाल से बहस करने की कोशिश की है, मुझे जनसंघ में भर्ती करने की उतावली उनके यहाँ नहीं है और मैं उनकी बात से सहमत हो सकूँ या न हो सकूँ, या किसी अंश में हो सकूँ और किसी अंश में न हो सकूँ, मैं उनकी इस भावना का आदर करता हूँ। कुछ ऐसे ही सोच-विचार की उम्मीद में मैंने इस बहस को रोपा था, और ख़याल था कि बात में से बात निकलेगी, कुछ नये कल्ले फूटेंगे, कुछ नयी बातों पर नये कोणों से रोशनी पड़ेगी, और विचारों के इस आदान-प्रदान से शायद यह सवाल कुछ और साफ होकर हमारे सामने आ सके, कोई ऐसा रास्ता निकल सके जिस पर चलकर जनवादी शक्तियाँ इस बिगड़ती हुई स्थिति को थोड़ा सँभाल सकें। मगर औरों को तो मेरी टाँग घसीटने से ही फ़ुर्सत न थी कि मुद्दे पर बात करते।

मेरा ख़याल है कि गिरीश माथुर की ज्यादातर बातों का जवाब ऊपर की बहस में आ गया है। लेकिन जो दो-एक बातें छूट गयी हैं, उन पर ग़ौर कर लिया जाय।

गिरीशजी ने स्वतंत्रता से पहले की सांप्रदायिकता और स्वतंत्रता के बाद की सांप्रदायिकता में 'मौलिक अंतर' की बात कही है, लेकिन पता नहीं वह खुद कहाँ तक अपनी इस बात पर विश्वास करते हैं क्योंकि अपनी इस बात को वह प्रमाणित नहीं कर सके, और अपने ही तर्कजाल में उलझकर रह गये। उनके साथ शायद ऐसा कुछ हुआ है कि उन्होंने इस सवाल पर पढ़ा तो बहुत है — ऐसी ढेरों जानकारी उनके लेख में है, किताबों की और बातों की, जिनका मुझे पता भी नहीं था — लेकिन उन किताबों में दिये गये तथ्यों को सजीव वास्तविकता की अपनी जानकारी की कसौटी पर कसकर उनमें से अपनी एक केन्द्रीय समझ वे नहीं उपलब्ध कर सके। नतीजा हुआ कि मेरी इस बात के जवाब में कि इधर आकर जनसंघ का प्रभाव बढ़ने की एक वजह बढ़ती हुई मुस्लिम सांप्रदायिकता भी है, वह सन् ४७ के उन बर्बर दिनों की ही ढेरों बात करते रह गये जब कि दोनों ओर मारकाट मची थी। उन्हें शिकायत है कि 'हम अंधे हो गये थे, पागल हो गये थे, दूसरा अपनी नाक काट रहा था तो हम भी अपनी नाक काटने लगे, दूसरा आत्महत्या कर रहा था तो हम भी करने लगे।' फिर वह इससे नतीजा निकालते हैं कि 'यह संघ की मनोवृत्ति

की जीत थी।' अच्छा होता, बहुत अच्छा होता, कि पाकिस्तान की तमाम मारकाट के बावजूद यहाँ मुसलमानों पर कोई आँच न आती, लेकिन मेरा खयाल है कि यह जरा ज्यादा माँग करना है। इसीलिए मेरी समझ में इसको जनसंघ की मनोवृत्ति की जीत के खाते डालना शायद बहुत युक्तिसंगत नहीं है। उसे परिस्थिति का तर्क कहना शायद ज्यादा ठीक होगा — विभाजन का प्रतिफल, क्योंकि देश का विभाजन कोई छोटी बात नहीं होती, और फिर जिन झगड़ों के संदर्भ में यह विभाजन हुआ, वह भी भूलने की चीज नहीं है। इसलिए वह सब बर्बादी और ग़ारतगरी अगर किसी के खाते डालनी ही है तो वह उन लोगों के खाते डालना चाहिए जो इस विभाजन के लिए जिम्मेदार हैं। मेरी बात का जवाब तब होता जब वह यह दिखा सकते कि उन वहशियाना दिनों के बाद इन हिन्दू सांप्रदायिक शक्तियों ने देश को शान्ति पर लौटने ही न दिया होता। लेकिन वैसा नहीं हुआ। देश में शान्ति लौटी, और बरसों यह शान्ति रही। और तब फिर यह एक नया तबाहकुन दौर शुरू हुआ। इसके जवाब में यह कहना कि जनसंघ १९५१ में बना, यह भी बहुत दूर नहीं ले जाता। एक तो इसीलिए की ५१ के बाद भी बहुत बरस ख़ासे अमन के बीते, और दूसरे इसलिए कि हिन्दू सांप्रदायिकता होने के लिए जनसंघ का होना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। जनसंघ न भी होता, हिन्दू जनता तो थी, और अगर उसके भीतर अकारण सांप्रदायिकता की यह प्रवृत्ति, उस प्रवृत्ति का यह उद्रेक होना था तो उसके लिए वह समय अधिक उपयुक्त था क्योंकि तब हिन्दू मन विशेष घायल था। लेकिन उस समय अगर यह प्रवृत्ति इस रूप में नहीं दिखायी पड़ी तो उसका कारण, दूसरी बातों के साथ-साथ, मुस्लिम सांप्रदायिकता के भीतर भी देखना चाहिए, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में, और फिर तो एक से दूसरी को खूराक मिलने लगती है, और प्रश्न रोज-ब-रोज़ अधिकाधिक जटिल होता जाता है। इसके जवाब में यह कहना, जैसा कि नामवरजी ने कहने की कोशिश की है, कि उस समय देश में नवनिर्माण की एक लहर थी और जवाहरलाल नेहरू थे, सिर्फ बात को टालने की एक कोशिश है। देश में नवनिर्माण की जैसी लहर थी, वह किसी से छिपी नहीं है और जहाँ तक जवाहरलाल नेहरू के होने की बात है, सांप्रदायिक हिन्दू जनता उन्हें हटा भी सकती थी, और आपने पटेल और नेहरू के झगड़े की जैसी तसवीर खींची है उसके नतीजे में बाहर जानेवाले नेहरू होते न कि पटेल।

लेकिन मेरी इस बात का यह मतलब नहीं है कि मैं इस तथ्य को देखने से इन्कार कर रहा हूँ कि संप्रति दक्षिणपंथी राजनीति, इजारेदार पूँजीपतियों की

ताक़त विशेष रूप से बढ़ने के संदर्भ में, विशेष रूप से बल ग्रहण कर रही है। लेकिन जिस प्रश्न पर हम इस समय बात कर रहे हैं उसके प्रसंग में यह बात ठीक होने पर भी पूरी बात नहीं है। क्योंकि हमें भूलना न चाहिए कि इजारेदार पूँजी की यह बढ़ोतरी आज की चीज नहीं है, नेहरू के समय से चल रही है — और वह नेहरू ही थे जिन्होंने इसी विषय की महलानवीस रिपोर्ट को प्रकाशित नहीं होने दिया।

और यहीं पर एक सवाल यह पैदा होता है कि इस हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर गांधी और नेहरू को अपने विचारों की सीमा-रेखा मानना कहाँ तक उचित है ? हिन्दू-मुस्लिम एकता की उनकी भावना का आदर करते हुए भी यह सवाल पूछा जा सकता है कि उसको हासिल करने का उनका ही तरीक़ा ठीक है और इस सवाल पर आख़िरी लफ्ज़ है, ऐसा समझने का क्या कारण है ? जन-आंदोलनों का हमारा अनुभव यह बताता है कि संघर्ष में पायी गयी एकता ही असल एकता है। गांधीजी और नेहरू ऐसी एकता के हामी थे, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। सच तो यह है कि गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन जन-आंदोलन की दिशा छोड़कर उत्तरोत्तर अधिकाधिक सांकेतिक होता गया, यहाँ तक कि सन् ४० में आकर वह व्यक्तिगत सत्याग्रह रह गया। उसमें उस संघर्ष की गुंजाइश ही कहाँ थी जिसमें से हिन्दू-मुस्लिम जनता की संघर्ष की एकता का जन्म होता ? वह तो मजदूर आंदोलन और किसान आंदोलन में ही दिखायी पड़ती है, और वही उसका सही रास्ता है। उसको अपनाने के बरअक्स कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने ही, अपने वर्ग-स्वार्थों की सिद्धि के लिए, उस जबर्दस्त हिन्दू-मुस्लिम एकता का तिरस्कार किया जो १९४६ में जहाज़ियों की बग़ावत के मौके पर क़ायम हुई थी — और उसी के नतीजे में फिर हर चीज़ का नक़्शा ही बदल गया, सौदेबाज़ी की आजादी कबूल करनी पड़ी और देश का बँटवारा क़बूल करना पड़ा और उसकी इतनी भयानक क़ीमत चुकानी पड़ी। फिर क्यों हम भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के सवाल पर उनका राग अलापते फिरते हैं ? जो लोग हमारी समझ में दूसरी पाँच सौ बातों में ग़लत नीतियों के शिकार हैं वह इसी एक सवाल पर कैसे इतने सही हो गये कि हम उनके पिछलग्गुओं जैसी बातें करने लगे ? मेरी समझ में, जैसे और बहुत सी बातों में उसी तरह इस बात में भी, उनकी नीति शुद्ध मामलेबाज़ी की अवसरवादी नीति है — यहाँ तक कि ख़िलाफ़त आंदोलन का समर्थन भी ऐसी ही नीति का नतीजा था, जिसके मूल में सतेज जन-आंदोलन से बचने की भावना थी। और मेरी मान्यता है कि सच्ची हिन्दू-मुस्लिम एकता ऐसे सतेज जन-

आंदोलन में से हो पैदा हो सकती है — और मेरी वह बात भी, कि दोनों ओर के साम्प्रदायिक विष से पूरी ईमानदारी के साथ निरंतर और अविराम लड़ते रहना ज़रूरी है, उसी बात की एक कड़ी है। अगर ऐसा नहीं किया गया तो असंगठित जनता को तो जाने ही दीजिए, राम ही उसका मालिक है, हमारी संगठित क्रान्तिकारी आन्दोलन की जनता भी इस विष का असर लिये बिना नहीं रहेगी, और कहीं-कहीं असर लेने भी लगी है।

गिरीशजी ने कहा है, 'आजादी से पहले के पंद्रह-बीस वर्षों में मुस्लिम सांप्रदायिकता का रूप आक्रामक था, लेकिन बँटवारे और आज़ादी के बाद उस का रूप रह गया प्रतिरक्षात्मक, जब कि हिन्दुओं की सांप्रदायिकता का रूप हो गया आक्रामक।' यह बात उन्होंने फ़तवे के रूप में कही है, कोई प्रमाण नहीं दिया कि किस आधार पर वह यह बात कह रहे हैं। मैं यह नहीं मानता कि आजादी के पहले सब समय और सर्वत्र मुस्लिम सांप्रदायिकता का रूप आक्रामक था, और न यह मानता हूँ कि आज वह सब समय और सर्वत्र प्रतिरक्षात्मक है। लेकिन अगर ऐसा मान भी लें, तो उससे लड़ा कैसे जायेगा, यह गिरीशजी ने कहीं नहीं बताया। जहाँ तक मेरी बात है, मैंने कहीं एक तरह से लड़ने की बात नहीं कही है, मैंने सिर्फ़ एक साथ दोनों से लड़ने की बात कही है। निश्चय ही दोनों के गुण-धर्म को समझकर ही उनसे लड़ा जायेगा; और अलग-अलग ढंग से लड़ा जायेगा, लेकिन उसके लिए पहली ज़रूरत इस बात की है कि दोनों के ख़िलाफ़ लड़ने और साथ-साथ दोनों मोर्चों पर लड़ने का एहसास लोगों में हो। बाकी बातें उसके बाद तय करने की हैं, और उसमें तो बराबर स्थितियाँ बदलेंगी, तरह-तरह की करवटें होंगी, उतार-चढ़ाव होंगे, और जो कुछ किया जायगा वह तभी तक सार्थक होगा जब तक कि वह वास्तविक संदर्भ, और बदलते हुए संदर्भ, से जुड़ा हुआ है। उसमें झगड़ा कहाँ है। झगड़ा तो इस बात का है कि एक सांप्रदायिकता से लड़ने की बात कही जाती है और दूसरी की तरफ़ से आँख मूँद ली जाती है — या लगभग मूँद ली जाती है। जिसके नतीजे में दोनों ओर की सांप्रदायिकता को बढ़ने और फलने-फूलने की पूरी छूट मिल जाती है और हम-आप अलग फिककर खड़े अपनी बाँसुरी बजाते रहते हैं!

और अब बस एक आख़िरी बात गिरीशजी के इस कथन के बारे में — 'जब पाकिस्तान बन गया तब तो हमें पाकिस्तानी मुसलमान क्या कहते हैं यह नहीं सोचना चाहिए, बल्कि यह देखना चाहिए था कि हिन्दुस्तान में रहनेवाले मुसलमान कैसे बदली परिस्थिति में अपने को बदलने की कोशिश करते हैं।'

मैं समझता हूँ कि यह भी अतिसरलीकरण की ही कोशिश है। जीवंत

समस्या इससे कहीं अधिक जटिल है, और मुझे आश्चर्य है कि गिरीशजी की नज़र से इतनी मोटी बात कैसे ओझल हो गयी । यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान एक ही महादेश के दो टुकड़े हैं, जो कल तक एक थे और झगड़े के बीच एक दूसरे से अलग हुए हैं । और न यही भूलने से काम चलेगा कि पाकिस्तान की नीति एकाग्र भाव से भारत-विरोधी रहती है, और भारत के मुसलमानों के बीच भी उसका भारत-विरोधी प्रचार चलता है । भारत के मुसलमानों का संबंध भी पाकिस्तान के अपने बंधु-बांधव से बना हुआ है — जिन सब बातों की ओर ध्यान दिलाने का उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि स्थिति का भी अपना एक तर्क होता है जो कोरी सदिच्छाओं से अधिक बलवान् होता है । जहाँ हज़रतबल के उस मूए-मुबारक के मामले को लेकर पूर्वी पाकिस्तान में इतनी विरोधी और भयंकर प्रतिक्रिया हो सकती है कि लाखों लोग अपना घर-बार छोड़कर हिन्दुस्तान भाग आयें, वहाँ यह मानना ही होगा कि सिर्फ़ हमारे चाहने से वैसी साफ़ तख्ती नहीं मिल जायेगी जिस पर हम नये सिरे से बिलकुल नयी इबारत लिख सकें । इस बँटवारे का यही सबसे भयानक पहलू है, और शायद इसी माने में रजनी पाम-दत्त ने उसको एक तरह का टाइमबम कहा था जो समय-असमय फूटता रहेगा । स्थिति की इस जटिलता को मानकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। और तभी हम यह समझ सकेंगे कि कैसे और क्यों पाकिस्तान के तुष्टीकरण की नीति, जैसे कच्छ के और दूसरे कई मामलों में, हिन्दू सांप्रदायिकता को बल पहुँचाती है । मेरा दृढ़ विश्वास है कि पाकिस्तान के तुष्टीकरण की नीति से अलग हुए बिना इस देश से हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को नहीं मिटाया जा सकता । उसी तरह इस देश के मुसलमानों के प्रति भी सरकार को एक स्वस्थ, सबल, न्यायपूर्ण दृष्टि का अनुसरण करना होगा और उस पर चलते हुए हर प्रकार से उनकी सुरक्षा का ध्यान रखना होगा, लेकिन छोटे लाभ के लिए तुष्टीकरण की नीति यहाँ पर भी छोड़नी होगी — जैसे नये विवाह कानून को मुसलमानों पर लागू न करना और उन्हें सदा की भाँति अनेक विवाह करने की छूट दिये रखना । धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सबसे पहले सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखना है । सरकार की दृष्टि में सभी जातियाँ, सभी धर्म, सभी संप्रदाय, सभी वर्ग बराबर होने चाहिए । ऐसे नियम-कानून का कोई अर्थ नहीं है जो किसी पर तो लागू होता है और किसी पर नहीं होता । मैं जानना चाहता हूँ कि यह अगर तुष्टीकरण की नीति नहीं है, मामलेबाज़ी की नीति नहीं है, अवसरवादिता की नीति नहीं है, तो और क्या है ? उसका क्या औचित्य है ? संसार के कितने ही मुस्लिम देशों में बहुपत्नी विवाह का अंत

करके एकपत्नी विवाह का प्रचलन कर दिया गया, और इसीलिए कर दिया गया कि यह एक प्रगतिशील सामाजिक क़दम है, लेकिन हमारी धर्मनिरपेक्ष सरकार ऐसा नहीं कर सकी, और समाजवादी क्षेत्रों में उसकी इस नीति का समुचित विरोध भी नहीं किया गया। फिर अगर आज जनसंघ उस बात को लेकर हिन्दू जनता के बीच प्रचार कर रहा है तो किसी के पास उसकी क्या काट है ?